आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच

डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल

आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच

डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल

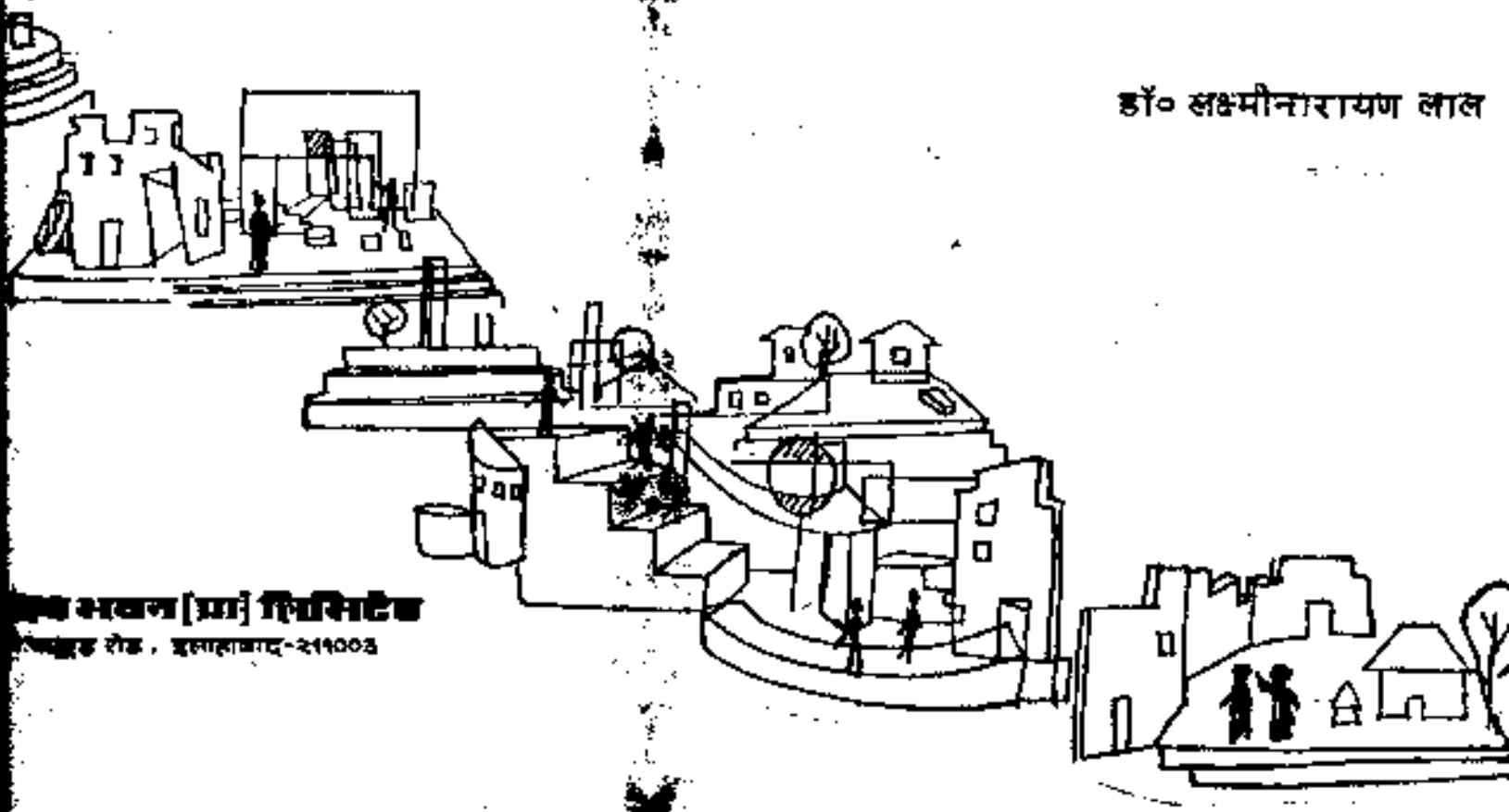

...भवन [प्रा] लिमिटेड
...रोड, इलाहाबाद-२११००३

Adhunik Hindi Natak Aur Rangamanch

By

Dr. Lakshmi Narain Lal

पुस्तकालय संस्करण : ३०.००
… १९५८ © लेखक विद्यार्थी संस्करण : १०.००

…ाब लि०, ४१, केन्द्री० कॉलेज रोड, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित
…ार प्रिंटर्स, २४७, हरिनगर, इलाहाबाद द्वारा मुद्रित

'दर्पण' के
प्रियवर प्रोफेसर सत्यमूर्ति को सप्रेम

अनुक्रम

आधुनिक रंगमंच ☐ ९

आधुनिक रंगमंच में नाटक का जीवन सन्दर्भ ☐ २१

हिन्दी रंगमंच और नाटक ☐ २९

स्वतन्त्रता के बाद का हिन्दी रंगमंच

आधुनिक हिन्दी नाटक ☐ ६५

जयशंकर प्रसाद का नाट्य

समस्या नाटक नहीं, यथार्थवादी धारा

सांस्कृतिक-नाट्य धारा

गीति नाट्य की परम्परा

एकांकी और यथार्थवादी नाट्य धारा

हिन्दी एकांकी का स्वरूप और विकास

हिन्दी नाटक और नया नाटक

परिशिष्ट ☐ १०९

आज का पश्चिमी नाट्य

आधुनिक रंगमंच

आधुनिक रंगमंच कहते ही आधुनिक यथार्थवादी सामने आता है। और आधुनिक यथार्थ हमारे युग के मनोरंजन-क्षेत्र में कितना व्यापक और महत्व हो गया, इससे सभी परिचित हैं। विज्ञान-युग की दो महत्वपूर्ण उपलब्धियों 'सिनेमा' और 'रेडियो' ने हमारे यथार्थ की अपार झाँकियों में सत्य चित्र, स्वरूप तथा मानव-समाज की यथार्थ बोली—प्रकृति के, जीव-जन्तु-जगत् के सत्य स्वर के साथ—हमारे सम्मुख रख दी है।

मानव मनोरंजन जगत् में फिल्म (सिनेमा) अपनी इस यथार्थवादी कला में निरन्तर विकसित होती जा रही है। इस माध्यम से जीवन अपने समग्र रूप में, अपनी समूची प्रकृति के साथ, सभी वातावरण के बीच में अपने समस्त रंगों से उजागर हो रहा है। इसकी तुलना में आधुनिक रंगमंच अपने नाट्य माध्यम से जीवन का जितना चित्र, जितना अंश और रूप, दर्शक-पाठक के सामने रख पाता है, वह फिल्म के सामने कितना सीमित और न्यून है। शायद इसीलिए इस यथार्थवादी रंगमंच से, इसकी सुगठित नाट्य-परंपरा (वेलमेडप्ले) से पिरेन्डेलो, ब्रेख्त, टी० एस० इलियट आदि ने इस कदर विद्रोह किया और अपने रंगमंच को अधिक प्रशस्त, उदार तथा काव्यमय बनाने का प्रयत्न किया।

किन्तु पश्चिम के उस सीमित यथार्थवादी रंगमंच की अपनी असीम शक्ति भी थी, जिसके माध्यम से इब्सन और चेखव ने अपने-अपने श्रेष्ठ नाटक 'डॉल्स हाउस', 'घोस्ट', और 'सीगल' की रचना की। मेरे विचार से इन नाट्यकृतियों को छोड़कर इब्सन और चेखव के शेष अन्य नाटक अपेक्षाकृत कल्पनाहीन, काव्यहीन, यथार्थवादी रंगमंच के उदाहरण हैं। इसका दुष्प्रभाव आगे पश्चिम के रंगमंच पर किस तरह पड़ा, इसकी चर्चा मैं बाद में कर रहा हूँ।

यह उल्लेखनीय है कि 'घोस्ट', 'डॉल्स हाउस' और 'सीगल' का रंगमंच महज यथार्थ का आधार लिए हुए है, शेष इसमें मानवतापूर्ण, ठोस कथा के

हमारे बहुमुखी जीवन के प्रति अपनी एक विशेष कलात्मक व्यंजना है। ये नाट्यकृतियाँ अपने आन्तरिक रंगमंच की अभिव्यक्ति में निश्चय ही कहीं काल्पनिक रंगतत्त्वों तथा काव्यमयी वृत्तियों से निर्मित हैं। अतएव इनके मंच में कैमरा और रेडियो की शक्ति से परे का जीवन, उनकी सम्प्रेषण-शक्ति से परे का भाव अभिव्यक्त है।

इब्सन और चेखव के सेट अन्य नाटकों की शक्ति, उसके भाव-बोध अपेक्षाकृत सीमित हैं। आधुनिक रंगमंच में यह कलात्मक सीमा है प्रकृतवादी दृष्टि की, उसकी रंगकला की, जिसकी चरम सीमा है 'रेलाइन का रंगमंच'—जहाँ न नाटक में कथावस्तु है, जहाँ न नाटक में नायक है, न वहाँ जीवन की मार्मिकता है, न विराट द्वन्द्व है। सब कुछ वहाँ केवल 'मूड' और तर्क पर आधारित है।

वस्तुतः यह है आधुनिक रंगमंच की भयानक सीमा, जिसके फलस्वरूप फिल्म और रेडियो (टेलिविजन) ने इसे बेहतर पराजित किया।

किन्तु इस आधुनिक रंगमंच की अपनी वह शक्ति भी है, जो फिल्म, रेडियो तथा टेलीविजन से अपराजेय है। वह शक्ति है इसके काव्यतत्त्व में, इसके मांसल रंगतत्त्व में, जिसे कार्कटेन ने 'रंगमंच का काव्य' कहा है। पर नाटक का यह काव्य केवल उसके कथोपकथनों में नहीं है, जैसे कि पश्चिम में शेक्सपियर और हमारे यहाँ जयशंकर प्रसाद और टैगोर में विद्यमान है; वरन् यह काव्यात्मकता है नाटक में व्याप्त अभिनयात्मिका वृत्ति में, पात्रों में छिपी अभिनय-कला में, जिसकी प्रत्यक्ष अनुभूति हमें नाटक के प्रस्तुतीकरण में होती है अथवा नाटक पढ़ते समय मन के मंच पर यदि उसे अभिनीत होते हुए देख सकें, तब उसमें व्याप्त रंगमंच का काव्यानन्द हम पा सकते हैं। अतः स्पष्ट है कि जिस नाट्यकृति का सूत्राधार यह अभिनयात्मिकता वृत्ति होगी, वही सफल श्रेष्ठ आधुनिक रंगमंच का उदाहरण है। शेष सब अर्थहीन है। यथार्थवादी रंगमंच के नाम पर केवल विस्तार (डिटेल) देना, मंच पर वस्तु-सामग्री, वस्तुएँ गिनना वास्तविक रंगमंच की अवज्ञा करना है। क्योंकि कैमरा-शक्ति के आगे कौन कितना और क्या 'डिटेल' दे सकता है। वस्तुतः आधुनिक रंगमंच की शक्ति वहाँ से शुरू होती है, जहाँ कैमरा और रेडियो की शक्ति समाप्त हो जाती है। यह शक्ति-सेतु है यथार्थ और कल्पना के कलात्मक समन्वय में। इन दोनों तत्त्वों की समन्वित शक्ति से जो रंगमंच बनता है, उसमें कथा का निर्माण घटनाओं के चयन की अपेक्षा पात्रों के कार्य, उनके कर्म तथा उनकी चेतना के विकास, संघर्ष और अर्थबोध के आधार से होता है। चेतना का यही धरातल रंगमंच में काव्य का

स्रोत बनता है। इसकी यही आन्तरिक अन्विति समूचे नाटक में एक लय, एक गति, एक रंगव्यवहार-लिपि की प्रतिष्ठा करती है। इसमें एक व्यक्ति के नहीं, उसके कार्य, उसके 'सुख' की अपेक्षा नाटक के सभी पात्रों के समूचे कार्य को आधार बनाया जाता है। सबके बाह्य और आन्तरिक सम्बन्धों से, सबके पारस्परिक चेतना तत्त्वों से प्रस्तुत एक व्यापक कार्य से यह नया नाटक निर्मित होता है, जिसे अरस्तू ने 'इतिहास की अपेक्षा अधिक दर्शन' कहा है।

रंगमंच की यह उपलब्धि यथार्थवादी रंगमंच की सीमाओं पर विजय ही एक विषम की दृष्टि है।

दुर्भाग्य से भारतीय आधुनिक रंगमंच में अभी गत दो दशकों से पूर्व प्रायः जितनी नाट्यकृतियाँ लिखी गयीं, उनमें इसी कल्पना-तत्त्व, दर्शन-तत्त्व और मुख्यतः अभिनयात्मिका वृत्ति का अभाव था। उन पर इब्सन, चेखव और शॉ के उन यथार्थवादी नाटकों की छाप थी, जिनमें दर्शन के स्थान पर इतिहास था, कलात्मक यथार्थ के स्थान पर तर्क-संगत यथार्थ था, कल्पना के स्थान पर वहाँ केवल वाद-विवाद था।

स्वभावतः वे भारतीय नाट्यकृतियाँ न भारतीय पाठकों को ही रुचिकर लगीं, न अभिनेताओं और दर्शकों को ही आकृष्ट कर सकीं।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समूचे भारतवर्ष में सभी क्षेत्रीय रंगमंच के स्तर से नाट्यलेखन में तीव्र गति आयी और चारों ओर रंगमंच की माँग के कारण आधुनिक रंगमंच के विषय में चर्चा और चिन्ता शुरू हुई। और पश्चिम के आधुनिक रंगमंच पर जब हम नाना विध प्रयोग और इतनी क्रांतियाँ देखते हैं तो हमारी चिन्ता यह अनुभव कर और भी अधिक गहन हो जाती है कि आधुनिक रंगमंच का अपना कोई निश्चित कला-माध्यम ही नहीं है।

स्वभावतः यही चिन्ता आज नाट्यलेखन-स्तर पर सबसे ज्यादा गहन हुई है, क्योंकि आखिरकार रंगमंच की धुरी तो यही नाट्यकृति ही है। यह नहीं तो रंगमंच घूमेगा कहाँ? यह सत्य है कि आधुनिक रंगमंच का पूरा रंगशिल्प हमें पश्चिम से मिला है। पर सोचने की बात है, वर्तमान में पश्चिम को इस संदर्भ में क्या मिला है? इतनी अगाध परंपरा, इतना साधनसम्पन्न उनका आधुनिक रंगमंच, फिर भी वर्तमान समय में नाट्यलेखन के स्तर से वे भी अपनी नयी दिशा और रंग-अन्वेषण के प्रति चिन्तित हैं। फिर तो हमारी चिन्ता, हमारी पीड़ा उनसे दुगुनी-तिगुनी हुई, क्योंकि हमारे पास तो अपनी आधुनिक रंगमंच की न कोई वैसी सम्पन्न परम्परा ही नहीं

है—न नाट्यलेखन की दृष्टि से, न प्रस्तुतीकरण के धरातल से। और यह रिक्तता, यह पीड़ा भारतवर्ष में आने वाली सभी पीढ़ियों तक तीव्रतर होती जाएगी, यदि हम अब भी अपनी दिशा में नहीं चलेंगे। यह दिशा कहाँ है?—हमारे अपने हृदय में, हमारे अपने दर्शकों में, हमारी अपनी भूमि में, हमारे अपने प्रसाधनों में, हमारी अपनी पीड़ा में।

नाटक का सीधा संबन्ध हमें अपने समाज और जीवन से जोड़ना होगा। जनसमुदाय को अपने रंगमंच से जोड़ने के लिए नाटककार को स्वभावतः उन्हीं के रंगारंग में उतरना होगा। इस दिशा में अतुल शक्ति छिपी पड़ी है लोक-रंगमंच की, जिसकी परम्परा सदैव अगाध और मुक्त है।

नये रंगमंच के संदर्भ में एकमात्र दिशा है पहले नाटककार की अपनी रंगदृष्टि। आधुनिक रंगमंच ने इस क्षेत्र में आज अपने विकसित रंगशिल्प से, अपनी प्रस्तुतीकरण-कला से यह सिद्ध कर दिया है कि नाटक सिर्फ लेखक की अपनी एकांत कला नहीं है; वरन् नाट्यलेखन वस्तुतः नाटककार से प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक की प्रतिभा की माँग करता है—वह अभिनेता, रंगशिल्पी की कला की सहज अपेक्षा करता है, ताकि नाटक अपनी अभिव्यात्मिका वृत्ति के साथ मंच पर रंगकला की सहज उपलब्धि को प्राप्त कर सके और उसमें निर्देशक तथा अभिनेता को भी नाटककार की ही भाँति अपनी-अपनी सृजनात्मक शक्ति को अभिव्यक्ति का अवसर और क्षेत्र मिल सके। नाट्य-कृति में रंग-संभावनाएँ इतनी व्याप्त हों कि रंगमंच के सभी वर्गों को अपनी कल्पना और प्रतिभा दिखाने का सुअवसर मिल सके। इसी को कहेंगे 'समाज का रंगमंच', 'सब वर्गों का रंगमंच'। नहीं तो अहंवादी नाट्य-रचना से हमारा सारा रंगकार्य पिछली पीढ़ी के नाट्यकर्म की भाँति एक उबाने वाली उदास वृत्ति और कलाहीन व्यापार होकर रह जायेगा।

निश्चय ही यह भारतीय रंगमंच के लिए अत्यन्त शुभ चरण है कि वर्तमान नाटककार अपने रंगमंच में आकर उसका अभिन्न अंग बन, अपनी लेखनकला को हृदयंगम करने लगा है। इन शुभ क्षणों में मुझे सहज ही एक महत्त्वपूर्ण पत्र की स्मृति हो रही है, जिसे मेसफील्ड ने गार्डन क्रेग को एक पत्रिका में लिखा था:

'कवि को रंगशाला में काम करने वाले अन्य कलाकारों का मित्र या साथी होना चाहिए। उसे और अन्य कलाकारों को अपनी-अपनी क्षमताओं

के प्रयोग के लिए एक-दूसरे को, जहाँ तक संभव हो, अधिकतम अवसर प्रदान करने के उद्देश्य से मिल-जुलकर काम करना चाहिये। जब भी कभी किसी रंगशाला में ऐसा हो पाता है तब कोई श्रेष्ठ उपलब्धि ही इसका परिणाम होता है।

'रंगशाला का कोई भी कार्यकर्ता अपने अन्य साथी कार्यकर्ताओं की कला के बिना काम नहीं चला सकता; प्रत्येक को उस सामान्य की सिद्धि के लिए अपने भरसक सब कुछ करना चाहिए, जो इसके माध्यम से असामान्य बन जाता है।'[1]

मुख्यतः यह पत्र आधुनिक रंगमंच के नाटककार के लिए उसका महान् धर्म बता गया है।

नाटककार और प्रस्तुतकर्ता का ऐसा अभिन्न संबंध। भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में इस दर्शन के ठीक विपरीत घटना घटी थी। नाटककार ने कहा, 'रंगमंच के संबंध में यह भारी भ्रम है कि नाटक रंगमंच के लिए लिखे जायें। प्रयत्न तो यह होना चाहिये कि नाटक के लिए रंगमंच हो।'[2] और ठीक इसके विपरीत उस काल के पारसी रंगमंच के प्रस्तुतकर्ता ने कहा, 'हम यहाँ इससे (रंगमंच से) रुपया कमाने आये हैं, कुछ साहित्य-संसार करने नहीं।'[3]

कैसी तीव्र प्रतिक्रिया थी एक-दूसरे के दृष्टिकोण में! कैसी विकट उपेक्षा थी एक दूसरे से! न नाटककार तैयार था अपने काल के रंगमंच में आने

---

1. "A poet should 'the fellow' of the other artists working in the theatre. He and the other artists should be working together to give to each other the greatest possible opportunities for the exercise of their powers. Whenever this happens in any theatre something noble is achieved. "No worker in the theatre can do without the art of his fellow-workers; each should bring all that he can to the common stock, which thereby becomes uncommon."

—The 'Mask', July, 1924

२. जयशंकर प्रसाद, 'काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध', पृ० १०, पहला संस्करण।

३. 'माधुरी', वर्ष २, खण्ड १, संख्या ३, पारसी रंगमंच और हिन्दी नाटक।

को, न प्रस्तुतकर्ता तैयार था नाटककार के साथ आने को, इसलिए दोनों अधूरे अपूर्ण रहे। इस असहकार का भयानक कुप्रभाव हमारे रंगमंच पर पड़ा। हमारे देश का आधुनिक रंगमंच इस तरह अपने इस निर्माण और उदयकाल में ही अपूर्ण रह गया।

पारसी रंगमंच-काल का प्रस्तुतकर्ता स्वभावतः अपने इस उद्देश्य में लगा था कि उसे अधिक से अधिक धन प्राप्त हो जाये। उसको यह कतई चिन्ता न थी कि वह खेल क्या रहा है, उसकी रचना क्या है, वह रचना कैसी रंगसज्जा माँगती है। कैसा प्रकाश और कैसा सम्पूर्ण रंगशिल्प, वह रचना किस काल पर आधारित है, किस युग की व्यंजना है उसमें, उसके लिए कैसा वातावरण और कैसा अभिनय चाहिये, इन बातों की उसने जरा भी चिन्ता न की। प्रदर्शन ! मात्र प्रदर्शन ! जब कि सत्य यह है कि रंगकला न मात्र प्रदर्शन में है न केवल यथार्थ-दर्शन में, बल्कि इसकी श्रेष्ठता है भावानुभूति में, कल्पना और विचार-दर्शन के समन्वित सत्य, अनुक्रम रंगक्रियण तथा रेखांकन की स्वर-मैत्री में, समन्वय में। तभी उसमें से प्रकाश की वह एकता उजागर होती है, जो सीधे हमारे हृदय, मन, प्राण और विवेक को स्पर्श करती है।

रंगकला का यही प्रतिमान आधुनिक रंगमंच की विशेषता है। जहाँ नाट्यलेखन एक कला है, ठीक उसी प्रकार प्रस्तुतीकरण को भी कला की भूमिका और संज्ञा प्राप्त हुई है। फिर भी ये दोनों कलाएँ एक-दूसरे से अभिन्न हैं, एक-दूसरे से उद्भूत हैं। नाटककला के विषय में यह अवधारणा पश्चिम में उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही प्रतिष्ठित होने लगी और बीसवीं सदी में वे देश इसकी पूर्णता को प्राप्त हो गये।

किन्तु हमने यहाँ अपनी स्वतन्त्रता के बाद से पहली बार रंगमंच-क्षेत्र में इस कला-स्तर से सोचना शुरू किया। नाटक और उसका प्रस्तुतीकरण एक स्वायत्त कला है; आज भारतवर्ष में सभी महत्वपूर्ण नाटककार और प्रस्तुतकर्ता इस रंगकला-प्रतिमान से सहमत होकर अपना कार्य कर रहे हैं। पर इस संदर्भ में यह प्रश्न आज हमारे सामने अत्यन्त ज्वलन्त है—हमारे नाट्यलेखन की दिशा क्या हो ? यथार्थ, अथवा कल्पना ? या दोनों का समन्वय ? इस प्रश्न का उत्तर हमें अपने दर्शक की मनोभूमि के भीतर से ढूँढना होगा। आज भारतीय दर्शक क्या है ? कहाँ है ?

बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण भारत के अन्तर्गत, उनमें से भी बहुत ही छोटे-से क्षेत्र को छोड़कर आज समूचे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र का दर्शक फिल्म का दर्शक है। और फिल्म वालों को जैसे इस भारतीय दर्शक के परम्परापुष्ट मन और उसके संस्कार का खूब अध्ययन और ज्ञान है। फलतः अच्छी श्रेष्ठ फिल्मों में यथार्थ के आधार पर वही काल्पनिकता रही है, वही संगीतमयता, वही आदर्शवादिता और वही सुखान्तकी!

सौभाग्य या दुर्भाग्य से इतिहास की देन के फलस्वरूप हमारे दर्शक वही हैं, जिन्हें 'पिक्चर हाउस' से रंगशाला में लाना है।

स्वभावतः ये दर्शक न यथार्थवादी नाटक चाहते हैं, न अभी प्रयोगात्मक रंगमंच। ये सब नाटक चाहते हैं। कैसा नाटक? ऐसा जो एक ओर इनके विषय, इनके यथार्थ से सम्बन्धित हो; दूसरी ओर जो इनकी भावानुभूति, इनके दर्शन को उसके भीतर से वाणी दे सके; इन्हीं के मानसचित्र, इन्हीं के राग-रंग में जो उन्हें बांध सके और उन्हें रंगशाला में बैठने के लिए भी आकर्षित कर सके। क्योंकि व्यावहारिक स्तर पर आज नाटककार से पहले रंगशाला में दर्शक की समस्या है। नाटककार तो आज बहुत हैं, अभिनेताओं की भी भीड़ है, पर दुर्भाग्य यह है कि टिकट खरीदकर नाटक देखने वाले (असली दर्शक) ही नहीं हैं।

तो रंगशाला में अभी असली दर्शक ही नहीं है। ऐसा दर्शक, जिसके जीवन का सौंदर्य-बोध अथवा मनोरंजन-वृत्ति का रंगमंच एक अभिन्न अंग बना हो।

दूसरी ओर हमारे प्रस्तुतकर्ता, निर्देशक और अभिनेता-वर्ग की स्थिति है, जो वर्तमान समय में रंगमंच-कार्य में लगे हैं, पर जिनकी अपनी सीमाएँ और सम्भावनाएँ हैं, शक्ति सम्पन्नता है।

ठीक इन दोनों आयामों से परे नाटककार खड़ा है। अपने अध्ययन-कक्ष में पश्चिम के प्रायः सभी देशों—इंग्लैण्ड, अमरीका, रूस, फ्रांस, जर्मनी, इटली, स्पेन और आयरलैंड आदि की एक से एक उत्कृष्ट नाट्यकृतियों को पढ़ता हुआ, उनके 'क्लासिक्स' से लेकर आधुनिक प्रयोगात्मक नाट्यकृतियों तक। इसका परिणाम यह है कि भारतीय नाटककार की बौद्धिक चेतना अपने देश के पिछड़े रंग-मंच से स्वभावतः बहुत आगे बढ़ गयी है। रंगमंच और नाटककार के बीच इस दृष्टि से एक भयानक दूरी आ गयी। वस्तुतः यह दूरी हिन्दी रंगमंच में जयशंकर प्रसाद के समय से और बंगला रंगमंच में टैगोर के समय से जितनी शुरू

हुई है। इस तरह अपने पिछले रंगमंच से स्वभावतः असन्तुष्ट होकर भारतीय नाटककार उसे पीछे उपेक्षित छोड़कर अकेले अपने कल्पना (?) मानसिक जगत् और चेतना को लिये हुए आगे चलता रहा। उसने इस तरह यथार्थ रंगमंच के स्थान पर अपने मानसिक अतीन्द्रिय रंगमंच का निर्माण किया और अपने 'ड्राइंगरूम' में संतुष्ट बैठकर उसने अपने 'ड्राइंगरूम' के ही 'रंग' का नाटक लिखा। वही मौन, वही घुटा-सा वातावरण—बाहर के प्रशस्त जीवनक्षेत्र से टूटा हुआ, कथाहीन नाटक, अभिनयात्मकता शक्ति से शून्य नाट्यकृति। और अपने अहं की पूर्ति के लिए उसने अपनी इन्हीं नाट्यरचनाओं को 'साहित्यिक नाटक' की संज्ञा दी। ये साहित्यिक नाटक इस तरह आदर्शों में सजकर, पाठ्यक्रम में पालथी मारे अपने पिछले रंगमंच को अंगूठा दिखाते रहे और उपेक्षित रंगमंच जमीन पर खड़ा हुआ उन नाटकों को दूर से ही प्रणाम करता रहा। नाटककार उस रंगमंच के पास जाने में, उससे हाथ मिलाने में अपनी बेइज्जती समझता रहा। इसका फल यह हुआ कि भारतीय रंगमंच बिना अपने नेता और शिल्पी के अपनी जगह पर ही खड़ा रह गया और नाटककार की एकांत कृतियाँ यथार्थ रंगमंच से शून्य प्राणहीन बनकर रह गयीं। उनमें तथाकथित साहित्यिकता थी, पर उनमें रंगमंच न था। उनमें सूक्ष्म दर्शन रहा होगा, पर उनमें जीवन न था। उनमें विषय था, पर कथा न थी। उनमें कथोपकथन थे, उनकी भीतर रंगशक्ति न थी, उनमें घटनाएँ थीं, पर वे मंच-कार्यविहीन थीं। उनमें दृश्य-योजना थी, पर रंग-योजना नहीं। उनमें पात्र-योजना थी, पर भूमिकाहीन। उनमें यदि दृष्टि थी तो पाठकों के प्रति, रंग-दर्शन-बोध का कहीं ध्यान भी न था।

पश्चिम से सर्वथा अलग, सर्वथा भिन्न यह है भारतवर्ष का आधुनिक रंगमंच, जिसका दर्शकवर्ग रंगशाला से विमुख 'पिक्चर हाउस' में बैठा है। प्रस्तुतकर्ता और अभिनेता उजड़ी हुई रंगशाला में झाड़ू दे रहा है, साथ ही किसी अनजाने नाटक का पूर्वाभ्यास कर रहा है तथा हाथ में निमन्त्रणपत्र भरे दर्शकों को रंगशाला में बटोरने के लिए मुँह के बल बेचारा दौड़ रहा है। और नाटककार अपने बंगले में बैठा हुआ अपने सिर पर नाटककार होने का बड़ा-सा मुकुट रखे हुए है—ऐसा मुकुट जिसमें अर्थ से ज्यादा बोझ है, सौंदर्य से ज्यादा प्रदर्शन है। यही नाटककार-वर्ग उसके लिए पश्चिम के रंगमंच और नाट्य-साहित्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करता है और उसके प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करता है। दूसरी ओर रंग-मंच-अध्येता अपनी नाट्यस्थिति बिना जाने हुए ही रंगमंच-आन्दोलन पर लेख लिख रहा है। और नाटक का अध्यापक अपने रंगमंच की उपेक्षा किए हुए नाटक के तत्वों पर व्याख्यान दे रहा है,

और रंगमंच-अभाव पर घड़ियाल के आँसू बहा रहा है तथा मात्र कथोपकथन के अर्थ बताता हुआ, रंगमंच-कार्य को हिकारत की नज़र से देखता हुआ नाटक के उत्थान-पतन पर धुआँधार भाषण दे रहा है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी और दक्षिण-भारतीय सभी क्षेत्रीय रंगमंच में कमोबेश यही स्थिति वर्तमान थी। वही अलगाव! वही दूरी! वही असंगठन! वही अनास्था! रंगमंच बहुत पीछे—नाटककार बहुत आगे!

पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जब रंगमंच में भावना-स्तर से एक अभूतपूर्व नवोन्मेष आया तो इसमें नाटककार को फिर अनुभूत हुआ कि अपने रंगमंच से अलग रहकर उसकी कोई स्थिति नहीं। अपने युग-काल के रंगमंच से विच्छिन्न नाटककार का कोई अर्थ नहीं।

भारतवर्ष में आधुनिक रंगमंच के अन्तर्गत वर्तमान काल का यह रंग-आन्दोलन—नाटककार का रंगमंच में आना, उसमें अपने-आपको अंगीकृत कराना—पुनर्संगठन का यह पहला चरण निश्चय ही इसके महान् भविष्य का साक्षी है, जहाँ पहली बार सुसंगठित और नियोजित ढंग से, रंगकला के प्रति अटूट निष्ठा लिए हुए नाटककार अपने रंगमंच के साथ एकाकार हुआ। इस मध्यम-चरण में नाट्य लेखन की दिशा स्वयं ही खुलती जाएगी। क्योंकि अब तो रंगयात्री सब एकसाथ चल पड़े। दिशा अस्पष्ट रहती है। अलग-अलग चुप बैठे रहनेवालों के लिए। सामने का घिरा क्षितिज उन्हें दुनिया की सीमा लगती है पर चलने वालों के सामने दिशा, घिरे क्षितिज में अपने-आप उभरती चलती है।

दिशा और अनन्त दिशा!

फिर तो दुनिया के इतिहास भी सौभाग्य के चरण नापने लगते हैं।

पश्चिम का सारा आधुनिक रंग-मंच-आन्दोलन, उसकी सीमाएँ और उपलब्धियाँ हमारे सामने हैं। यथार्थवादी रंगमंच, उसका प्रकृतिवादी विकास, जिसमें पश्चिम का नाट्य उन्नीसवीं शताब्दी उत्तरार्द्ध से लेकर बीसवीं सदी के दूसरे दशक तक भटकता रहा, और उसका सारा रंगमंच-कार्य यथार्थ, प्रकृतिवाद, 'वेलमेड प्ले' के नाम पर जीवनहीन हो गया। पश्चिम के प्रायः सभी देशों में इस काल का नाटककार चाहे इब्सन, चेखव और बर्नार्ड शॉ की नाट्यकला से

इसकी बुरी तरह से प्रभावित हुआ कि उसके आधुनिक रंगमंच का इतना लम्बा काल श्रेष्ठ रंगमंचीय नाट्य धारा से शून्य हो गया। प्रायः सारे नाटक रंग, कार्य, कथा, कल्पना, काव्य—इन महत्त्वपूर्ण तत्त्वों से शून्य होकर केवल 'सूत्र', 'विचार' और 'थीसिस प्ले' का साहित्य होकर रह गये।[1] जिनमें न रंगमंच का उतना रस ही था, न उतनी गति ही थी। फलतः इस लम्बे काल तक पश्चिम का सारा दर्शक-वर्ग अपने मनोरंजन के लिए रंगशाला को छोड़कर 'पिक्चर हाउस' में जा बैठा। ठीक यही तो आज भारतवर्ष के दर्शकों की स्थिति है।

पश्चिम में आधुनिक रंगमंच की उस दशा से उबरने के लिए वहाँ वही रंगदर्शन-भरी आवाज बुलन्द हुई :

"दर्शकों के प्रति सम्मान! यदि नाटककार दर्शकों को किसी लक्ष्य तक पहुँचाना चाहता है तो उसे चाहिए कि पहले वह दर्शकों को अंगीकार करे। उसे दर्शकों को घनिष्ठ रूप से जानना चाहिए, उसकी बुद्धि का सम्मान करना चाहिए, उसकी सहभागिता का स्वागत करना चाहिए।"[2]

फिर रंगमंच को इस संक्रान्ति से उबारने, उसे पुनर्जीवन देने के लिए नयी दिशा और नयी गति देने के लिए पश्चिम में फिर वही पुराना दर्शन दुहराया गया :

"जनता की भीड़ को प्रभावित करने वाले लोकप्रिय नाटकों की परंपरा से ही महान् रंगमंच का विकास होता है। यूनानी नाटककारों के साथ, मोलियर और शेक्सपियर के साथ यही बात रही है। आजकल के नाटक कभी-कभी

---

1. "One of the popular traditions of our time has, with perfectly good Intentions, transformed theme into thesis, character into mouth-piece, play-wright into high priest."

—P. 87, 'How Not to Write A Play' by Walter Kerr.

2. "Respect for the audience! In order to take the audience somewhere the play-wright must first embrace it. He must know it intimately, must honour its intelligence, must welcome its partnership."

बुद्धिजीवियों को तो प्रभावित करते हैं, लेकिन आम जनता को कदाचित् ही कभी प्रभावित कर पाते हैं।"[1]

वस्तुतः, पश्चिम में १९१० ई० के बाद जिस नये रंगमंच का जन्म हुआ और जिससे पश्चिम का रंगमंच फिर से सार्थक हुआ, वह 'यथार्थवादी रंगमंच' के स्थान पर जीवन, इतिहास, गाथा (Myth); दर्शन, कल्पना और धर्म से परिपूरित रंगमंच था, जिसके प्रतिनिधि नाटककार अवतरित हुए इंग्लैण्ड में टी० एस० इलियट : 'मर्डर इन कैथिड्रल' (१९३५); क्रिस्टोफर फ्राई : 'द लेडी इज नॉट फॉर बर्निंग' (१९४९)। मध्ययूरोप में बर्तोल्त ब्रेख्त : 'द थ्री पेनी ऑपेरा' (१९३०), 'द काकेशियन चॉक सर्किल' (१९४४)। फ्रांस में ज्यां कक्तू: 'द इन-फर्नल मशीन' (१९३४), ज्यां पॉल सार्त्र : 'द फ्लाइज' (१९४३), ज्यां अनुई: 'एन्टीगनी', '[illegible]'। स्पेन में लोर्का : 'ब्लड वेडिंग' (१९३३), 'यर्मा' (१९३४)। अमरीका में सरोयान : 'माइ हार्ट इन द हाईलैंड्स' (१९१९); टेनसी विलियम्स : 'द ग्लास मैनेजरी' (१९४५)।

आज पश्चिम में यह दिशा है उसके आधुनिक रंगमंच की। पर हमारी दिशा वह पश्चिम की नहीं हो सकती। उनका यह आंदोलन उनके यहाँ के नाट्य-स्थितियों की सहज देन है। उनकी यह रंग-उपलब्धि उन्हीं के इतिहास, उन्हीं के दर्शकों की माँग और मुख्यतः उन्हीं के परंपरागत, स्वकीय रंगमंच की प्रेरणा के फलस्वरूप थी। इस दिशा में पश्चिम का यथार्थवाद, फिर यथार्थवाद के विरुद्ध यह व्यापक प्रतिक्रिया और यह नया नाट्यसाहित्य—यह सब हमारे लिए इतिहास के एक ज्वलन्त उदाहरण के रूप में सामने है। इतिहास के इस अनुभव से हम सीख अवश्य ले सकते हैं।

जैसा हमारा रंग-इतिहास है, जैसी हमारी स्थिति है, न पूर्णतः हम यथार्थवादी हो सकते हैं, न हम पश्चिम जैसे प्रयोगवादी रंगमंच में सहसा कूद सकते हैं। हमें यहाँ से अपनी दृष्टि लेनी है जहाँ हमारे अपने रंगमंच की एकांत शक्ति छिपी है, जहाँ हमारी अपनी अतिरिक्त शक्ति है। और अपनी इस दृष्टि में

---

1. "Great theatre must arise from a tradition of popular plays which appeal to the crowd. This was the case with the Greek dramatists with Moliere, with Shakespeare. Today's plays appeal sometimes to the intellectuals, but hardly ever to the general public."

पश्चिम के आधुनिक रंगमंच के इतिहास का यह कलात्मक अनुभव हमें कभी नहीं भूलना होगा कि जब पश्चिम में यथार्थवादी रंगमंच फलीभूत नहीं हुआ, फिर तो भारतवर्ष भारतवर्ष है, जहाँ की प्राचीन नाट्यपरम्परा का आनन्द 'रस' में सन्निहित है।

हर देश, काल और युग का रंगमंच तथा उसका नाट्यलेखन उसकी अपनी परिस्थितियों और उसकी अपनी सामर्थ्य (रिसोर्सेज) के अनुसार ही विकसित होगा, और हुआ है। इस विकास का सीधा सम्बन्ध उस देश, युग और काल की अपनी आंतरिक शक्ति है। पश्चिम की उपलब्धियाँ हमारे सामने हैं, हम उनसे महज रंगशिल्प के स्तर से मदद ले सकते हैं, पर हम उनकी सामूहिक उपलब्धियों से अपनी उपलब्धि नहीं पा सकते।

हमारे यहाँ तो अभी सारे रंगतत्त्व बिखरे हैं। इसलिए अभी तो हमारी सारी शक्ति रंगमंच-संगठन पर लगी है। इससे पहले हमें अपने परिप्रेक्ष्य में आधुनिक बनाना है। इसे रंगमंच के सभी तत्त्वों से पहले सही अर्थों में विमुक्त करना है। और निश्चय ही इस सब कार्य-व्यापार का मूल केन्द्र नाट्यकृति ही है। और यह भी सत्य है कि नाट्यकृति आज रंगमंच के इतने सामूहिक क्रिया-कलाप उसके इतने आधुनिक कलात्मक व्यापार के लिए तब तक समुचित क्षेत्र नहीं दे सकती जब तक कि उसमें उसकी आंतरिक रंग-अन्विति न हो। और इस आंतरिक रंग-अन्विति का निर्माण अपने युग के रंगमंच की सभी उपलब्धियों के सामंजस्य से नहीं होता है, यह भी बहुत बड़ा सत्य है।

कितना गहन अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है !

तभी भारतवर्ष के वर्तमान नाटककार का दायित्व एक ही साथ एक ही बहुलता और व्यापकता से कितने धरातलों पर है—यह उसके लिए बहुत बड़ी चुनौती है, और साथ ही यह उसके लिए बहुत बड़ा धर्म भी है। एक की असफलता, एक की क्षति दूसरे को भोगनी होगी, यह स्पष्ट है :

शायद ही किसी युग में किसी देश के नाटककार के सामने इतना बड़ा दायित्व, इतना गहन धर्म आया हो।

आधुनिक रंगमंच में नाटक का जीवन संदर्भ

हमारे आज के समय-काल के विविध संदर्भों में, नाटक लिखने के प्रयत्न के मतलब हैं, आज के वस्तुपरक तथ्यों तथा साक्षात् जीवन संदर्भों से जुड़ना और उनकी गहराइयों से संबंधित होना। आप सोचेंगे, ऐसा साहित्य में भी तो होता है। हाँ, नाटक और उपन्यास कहानी में इतना ही तो अंतर है कि नाटक में वही वस्तुपरक एवं आत्मपरक तत्त्व मंच पर प्रस्तुत होने के उद्देश्य से निर्मित होता है, और कथा साहित्य में वही मात्र पढ़ने के संबंध से। पर जो नाटककार सिर्फ इतने ही अन्तर को मानकर नाटक लिखते हैं (भारत में ऐसे बहुत ज्यादा नाटककार हैं।) वे स्वभावतः वस्तुओं, तथ्यों और विवरणों को एक ओर इतिवृत्तात्मक स्वरूप में रखते हैं, दूसरी ओर वे नाटक के यथार्थ की यही इति मान बैठते हैं कि मंच के निर्देशों और उसकी अपनी भाषा में जीवन को लिख दें।

जबकि उपन्यास और नाटक का मूल अन्तर यह है कि उपन्यास में जहाँ यथार्थ लिखा जाता है, उसका चित्र उपस्थित किया जाता है, वहाँ नाटक में यथार्थ जिया और भोगा जाता है, वहाँ लिखा और कहा कुछ नहीं जाता। जितने स्तर तक नाटक में यथार्थ लिखा कहा जाता है, उतने ही स्तर तक वह नाटक नहीं हो पाता, या नहीं हो सकता। विश्व के कुछ उपन्यास, नाटक की इसी क्षमता को अपने में संजोकर महान सिद्ध हुए हैं—जैसे 'ओल्ड मैन एंड द सी', 'ब्रदर्स करमेजोव', 'वार एंड पीस'....। इनमें जो कलात्मक श्रेष्ठता है, वह कथा न वर्णित है, न कथित, वरन जीवित कार्य के रूप में है। वहाँ नाटककार की ही तरह उपन्यासकार पूर्णतः अनुपस्थित है। उपस्थित है केवल जीवन और उसके प्रत्यक्ष-दृश्य संघर्ष। 'ओल्ड मैन एंड द सी' में दुख, संघर्ष, पराजय और अनुताप का यथार्थ कहीं भी उपन्यास में लिखा नहीं दिखता। हम केवल इसके

नायक—सैंटियागो (सैन्ट पीटर का स्पेनिश नाम) नामक एक मछुआरे को देखते हैं। वह बूढ़ा, सीधा-सादा मछुआरा स्वयं में एक ऐसा मिथक है, जिसमें यद्यपि मिथक के कोई भी चिह्न, या तत्व नहीं हैं, जो साक्षात् जीवन की तरह है। 'मार्लिन' (मछली) के मारने की प्रक्रिया में वह अन्ततः अपने आपको ही मारता है। और इस तरह वह मछली उस मछुआरे के पार्थिव तथा ऐन्द्रिक अस्तित्व का ही प्रसार सत्य है—कोई मात्र मछली नहीं। जैसे ही वह मछली की हत्या करता है, 'वह मछली जिन्दा हो जाती है—उसकी उसमें मृत्यु के साथ ही...'।

लोर्का के प्रसिद्ध नाटक 'यर्मा' में जीवन के अन्तर्गत यथार्थ का यही प्रयोग काव्यात्मक धरातल से रचित है। यर्मा अपने पति को अन्त में गला घोंटकर हत्या कर देती है—और नाटक समाप्त हो जाता है। पर दरअसल नाटक यहीं से शुरू होता है—एक ऐसी स्त्री—या इन्सान का अन्तहीन नाटक, जिसने अपने ही हाथ से अपनी सृजनात्मक शक्ति की हत्या कर डाली हो, और वह सिर्फ जीवित रहने को (जीने को नहीं) अभिशप्त हो। यही विशिष्ट अर्थ नाटक को साहित्य तथा कलाओं में सर्वथा एक नया स्थान देता है।

रचनात्मक साहित्य के प्रत्येक माध्यमों तथा रूपों में अपना निजी अर्थ होता है, जो जीवन-प्रसंगों के भीतर से उपजता है - यथा कविता, तथा कथा-साहित्य। अर्थ यहाँ शब्दों में अन्तर्भूत रहता है। पर इससे आगे नाटक में यही अर्थ मंच पर अभिनीत किया जाता है—या प्रस्तुत होता है। अर्थ की रचना और फिर पुनर्रचना—यहीं से नाटक—जीवन संदर्भों के स्तर से अपना महिमापूर्ण संश्लिष्ट स्वरूप धारण करता है।

अर्थ के इसी विशेष प्रयोग तथा रचनाभूमि से, जीवन प्रसंग को लेकर दो महत्त्वपूर्ण बिन्दु सामने आते हैं। और यहीं से, प्रयोग स्तर से दो प्रकार के नाटक तथा नाटककार सामने आते हैं। एक ओर ऐसा नाटककार जो एक विशेष विचार अनुभूति को नाटक का शरीर देता है। उस नाटक का शरीर अथवा उसके रंगमंच का बाह्य स्वरूप चाहे कितना विविध, रंगमंचीय क्यों न हो, उसके रंगमंच का आन्तरिक स्वरूप, विचार-अनुभूति में गठित तथा युक्त है। दूसरी ओर एक ऐसा नाटक है; नाटककार है, जिसका अपना कोई खास विचार-अनुभूति नहीं है, पर वह बाहरी नाट्यकला तथा रंगमंच कला का सफल, कुशल शिल्पी है। अर्थात् एक ओर रंगमंच में कवि है, दूसरी ओर रंगमंच में एक मात्र शिल्पी—दोनों में अधिक महत्त्वपूर्ण यही कवि है। क्योंकि

वह अर्थ देता है—जीवन संदर्भों के भीतर से ऐसा नाटकीय अर्थ, जिसकी पूर्ण-रचना मंच पर संभव होती है।

इसी कवि द्वारा ही अचानक में रंगमंच के भीतर सर्वथा एक नया प्रयोग होता है। अभिनय जैसी परंपरावादी कला में उसके नये नाटक से एक नयी शुरुआत होती है। यथार्थ के बारे में भी नये चरण खुलते हैं। संस्कृत, ग्रीक तथा शेक्सपीरियन रंगमंच में नाटक के पात्रों का (जीवन संदर्भों का) अभिनय किया जाता था, क्योंकि इस चरण में उदात्त-अनुदात्त, धर्म-अधर्म का रूपक तथा ड्रामा प्रस्तुत होता था। आधुनिक युग में—इसकी यथार्थवादी नाट्य परंपरा में, नाटक के पात्र के अभिनय के स्थान पर, स्वयं उसी पात्र को मंच पर जीवित होना पड़ता था—स्टैनिस्लावस्की की रंगमंच कला इसका ज्वलन्त उदाहरण है; और इब्सन की नाट्यकला इसका प्रत्यक्ष प्रमाण। क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष जीवन संदर्भों को परम यथार्थवादी ढंग से रंगमंच का विषय बनाया गया है। यथार्थ में जो प्रत्यक्ष है, उसके अन्तराल में परोक्ष में कितना कम। जलमग्न पहाड़ की तरह है, उसे सम्बोधित करना इस युग का कलात्मक लक्ष्य था। यथार्थवाद से आगे आया अयथार्थवादी रंगमंच—ब्रेख्त का थियेटर—जहाँ मंच पर नाटक के पात्र की सजीव भूमिका भी निभानी पड़ती थी और साथ ही उस पात्र पर उसे टीका-टिप्पणी भी करनी पड़ती थी। ऐसा इसलिये कि ब्रेख्त के नाटक भावना के स्थान पर सोचने-विचार करने की वृत्ति को जगाने के लिये सम्बोधित थे। वे जीवन प्रसंगों तथा जीवन यथार्थ के नाटक नहीं, महानाटक थे, और स्वभावतः उनकी संरचना महाकाव्यात्मक शैली में की गयी थी।

पर मात्र विचार-अनुभूति ही नाटक के शरीर में बसकर उसे महत्वपूर्ण सार्थक नहीं बनाते। ऐसा तो चित्रकला, मूर्तिकला—अर्थात् उन सारी कलाओं में, जहाँ कला जीवन की अनुकृति और उसका प्रतिनिधानात्मक स्वरूप, ग्रहण करती है, होता है। सब कलाओं में प्रकृति और जीवन, कलाकार के सामने, उसकी आँखों में होता है। किन्तु नाटक ही एक ऐसी कला है, जो जीवन तथा यथार्थ का प्रतिनिधानात्मक स्वरूप होने के बावजूद, जिसके अन्तर्तम में सदैव एक दर्शक समाज विद्यमान रहता है। कोई भी विचार-अनुभूति कैसी भी नाटक के शरीर के बावजूद बिना दर्शक की संकल्पना के न सार्थक नाटक बन सकता है, न पूर्ण रंगमंच।

नाट्यलेखन में जिस स्तर तथा अनुपात से दर्शक की यह उपस्थिति नहीं होती, उसी स्तर तथा अनुपात से यह नाटक रंग निर्देशन तथा परिवेश

और दृश्य निर्माण के अनावश्यक विस्तार तथा अप्रासंगिक विवरणों से बचा रहता है। संस्कृत तथा शेक्सपीरियन रंगमंच में सारा रंगमंच निर्देश, दृश्य सज्जा और परिवेशबोध उसके नाटक में अन्तर्भूत है—छिपा हुआ है। क्योंकि वह सारा का सारा, आदि से अन्त तक दर्शक समाज को अपनी आँखों में बसा कर लिखा गया है—या संयोजित हुआ है।

आधुनिक रंगमंच में, जैसे जैसे मंचसज्जा और दृश्य कला और उसका समूचा रंगशिल्प (ध्वनि, रंग, स्पर्श और अन्य प्रभाव) विकसित होता गया है; वैसे वैसे, नाटक से उसका वातावरण, परिवेश और नाटक की संकल्पना में अर्न्तनिष्ठ और इसी अनुपात से नाटक की महिमा स्वभावतः घटती गयी है। दर्शक दृष्टि की अनुपस्थिति से आधुनिक नाटक बोझिल हुआ है और साथ ही अपने व्यावहारिक रंगमंच में बेहद श्रम और व्ययसाध्य हुआ है।

लोग कह सकते हैं कि यह हमारे यथार्थ जीवन के ही कारण है। ऐसा आज का जीवन ही है कि उसमें बुद्धितत्त्व प्रधान है, और वह अपने परिवेश से पैदा होकर भी उससे दूर और असंग हटा हुआ है। पर ऐसा कोई निरा पत्रकार ही कह सकता है, रचनाकार नहीं। रचना के स्तर से नाटक को सोचते ही यथार्थ का वह स्वरूप सामने आता है, जिसे देखकर अनुभव करने के लिए दर्शक रंगशाला में आता है। यही विशेष अनुभव सच हर युग के नाटक को एक दूसरे से विशिष्ट बनाता है।

और नाटक अपने विशेष युगकाल की अर्थहीनता को झेलता हुआ उसके मूल्यवान अर्थ को प्राप्त करता है। यही अनुभव नाटक में छिपा होता है और इसी की अनुभूति रंगमंच की वास्तविक उपलब्धि होती है।

हमारे वर्तमान समय की अर्थहीनता है—सामान्य जीवन की एकरसता की। एक ही तरह के विविध वर्गों में बंटे, सपाट जिन्दगी जीने वाले परिवार, साधारण लोग, वही रोजमर्रा की घटनाएं, कार्य व्यापार। सपाट है—यह जीवन, दैनिक समाचारपत्र के पृष्ठों जैसा ही समरूप और निर्जीव है। यंत्रवत् यही रोज चक्कर काट रहा है। इस जीवन में कुछ भी ऐसा नहीं घट रहा है, जो वास्तव में अर्थवान हो—और जो दरअसल नाटक का आयाम पाने वाला हो। जैसे किसी दिन हम सुबह समाचारपत्र में कोई दिलचस्प घटना पढ़कर थोड़ी देर तक मन बहला लेते हैं, ठीक इसी तरह इधर आधुनिकता के नाम पर अनेक अखबारी करिश्मों को देखकर थोड़ी

देर तक हम नाच कारनों के मजे को बढ़ा लेते हैं पर इसके आगे और कुछ नहीं। जैसे उस दिन के, समाचारपत्र से आगे कुछ नहीं। क्योंकि ऐसे चमत्कारितापूर्ण नाटक स्वभावतः हमारे समय की अर्थहीनता एकरसता को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं—जबकि यह मात्र एक स्थिति है, बाहरी परिवेश है। यह स्थिति हर एक युगकाल के मनुष्य स्वयं पैदा होती है—जैसे संस्कृत रंगमंच युग में स्वच्छन्द रुझान की, इब्सन के काल में नैतिक मूल्यों तथा विरोधी सिद्धान्तों के संघर्ष की—पर इन स्थितियों के भीतर—इसके मूल केन्द्र में विद्यमान वह मनुष्य क्या है, जीवन की वह मर्मभूमि क्या है—वहाँ है 'अभिज्ञान शाकुन्तलम' और 'घोस्ट'। जो अपने समय की स्थितियों, अर्थहीनता को देखकर एक शुद्ध विचार को हममें अनुभूत कराते हैं—ऐसे अनुभव और विचार, जिसे लाखों समाचार-पत्र, असंख्य स्वच्छन्द रुझान, अनेकों नैतिक मूल्य और जीवन सिद्धान्त हमें नहीं दे सकते। ऐसे अनुभव और विचार जो शब्दों से कभी व्यक्त नहीं हो सकते। ठीक इसके विपरीत हमारा समसामयिक भारतीय नाट्यलेखन प्रायः यथातथ्य, समाचारपत्र-धर्मी यथार्थ के ही स्तर से व्यक्त होने को जैसे अभिशप्त है।

यथार्थ स्थितियाँ मात्र साधन हैं, जिनके द्वारा रचनाकार उस मर्म पर पहुँचता है, जहाँ जीवन संदर्भों का केन्द्र बिन्दु है—जहाँ से एक ही साथ अर्थ और अनुभव दोनों की शुरुआत होती है। बल्कि नाटक में अर्थ और अनुभव जहाँ एकाकार होते हैं, वह यही मर्मभूमि है।

आज समाज विज्ञान, जीव विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अनेक नये-नये अन्वेषणों के कारण, हमारी दुनिया और इसमें रहने वाले लोग आत्म सजग नहीं, बल्कि बेहद चौकन्ने और भड़क से गये हैं। स्वभावतः आज का रचनाकार, और इसमें भी सबसे अधिक नाटककार आत्मसजग हुआ है। इस पर एक ओर विविध शास्त्रों का दबाव पड़ रहा है, दूसरी ओर प्रसंगों से रचनात्मक स्तर पर न जुड़ पाने का—और इससे भी ऊपर पूरी दुनिया के प्रभावों का इस पर असर पड़ रहा है। इसके भीतर यह सोचने को मजबूर हुआ कि कालिदास, शूद्रक, शेक्सपियर और सोफोक्लीज, इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण नाटककार थे—ठीक जैसे आज का मनुष्य (दर्शक समाज) यह सोचने तथा अनुभव करने को विवश हुआ है कि उसके पिता-पितामह और पुरखे उससे कहीं अधिक अर्थवान व्यक्तित्व के थे।

इसके कारण अब स्पष्ट सामने हैं। कालिदास-शूद्रक, शेक्सपियर और सोफोक्लीज अपने देशकाल से जुड़े और बँधे रहकर भी विषय-अनुभूति से

असीम तथा कालातीत थे। यही सत्य एक ओर उसके नाटकों को जीवन प्रसंग से जोड़ता है तथा दूसरी ओर इसी से उनके नाटक महिमा मंडित होते हैं।

और हमारे समय में जीवन प्रसंग से जुड़ने का मात्र आशय यह लिया जाता है कि वास्तविक तर्कपूर्ण परिस्थितियों में तर्कपूर्ण, वास्तविक मनुष्य-समाज को नाटक में लिपिबद्ध करना और सोचना। पर इस प्रकृतवादी परिस्थिति की अनेक असमस्त सीमायें सामने आ खड़ी हो गयी हैं—जिनसे पिछले तीस वर्षों से पश्चिम का सारा नाट्यलेखन जूझ रहा है, और इससे मुक्ति पाकर बस बुनियादी इंसान को चित्रित करने में इतने प्रयोगवादी रंगमंचों को तलाश रहा है।

इस प्रकृतवादी—या आज के संदर्भों में यथार्थवादी नाटक की पहली बड़ी सीमा यह है कि वह एक इतने अनिश्चित, अतिसीमित तर्कपूर्ण परिस्थिति तथा जीवन-प्रसंग से घुला-घिरा होता है कि अपने से बाहर की सारी दुनियाँ से यह निस्संग, कटा हुआ सिद्ध होता है। इसके प्रसंग स्वभावतः सतही और ज्यादा चौंकाने वाले होते हैं। ये अन्ततः हमारे तर्क को ही जगाकर हमें रंगमंच से उखाड़कर हमें भागने को विवश करते हैं। ये हमें वह मानसिक स्थिति नहीं देते, जहाँ हम स्वतन्त्र, अबाध, निर्विघ्न, अनुभव कर सकें। वह क्षण हमें नहीं मिल पाता, जहाँ हम एक नये स्तर से, अपने को प्राप्त कर सकें और अपने को मनुष्य महसूस कर सकें।

इसी अनुभव, इसी अर्थवत्ता के लिये ओनील, ब्रेख्ट, इलियट, ज्याँ अनुई आदि ने मनुष्य और जीवन को इतिहास, पुराण, अतीत लोकगाथा तथा दूर-दराज के देश-काल में प्रतिष्ठित कर समसामयिक जीवन-बोध को सम्प्रेषित करना चाहा है। समसामयिक को भूतकाल में मिला कर अपने समय के यथार्थ को व्यक्त किया है—ऐसा यथार्थ, जो सारे संसार का है, सबका है, जहाँ विशेष साधारण हो जाता है और साधारण विशेष।

दूसरी ओर आर्थर मिलर, लोर्का, पिरेंडलो, आइनेस्को और बैकेट जैसे नाटककार जब सम-सामयिक जीवन को अपने ही समय तथा परिस्थिति में रखकर उसे देखते हैं, तो उसी अर्थवत्ता तथा अनुभव के लिये वे मनुष्य को उसके आदिम प्रश्नों तथा प्रसंगों के परिप्रेक्ष्य में पाते हैं—मनुष्य की आदिमवासना—स्वार्थ, भाग्य, अंधविश्वास, मृत्यु, भय—मनुष्य के सनातन संघर्ष मनुष्य और मनुष्य····। तभी इन नाटकों के स्तर वृहत्तर होते हैं और इनके संदर्भ मानवीय।

अनेक दुर्भाग्यपूर्ण कारणों से भारतवर्ष का—विशेषकर हिन्दी, बंगला, कन्नड़ और मराठी का नया नाट्यलेखन जीवन प्रसंगों के इन गहरे प्रश्नों से अभी तक असम्पृक्त है। पिछले दस-बारह वर्षों के नाटकों को देखकर यह अनुभव होता है कि यह सारा नाट्यलेखन पश्चिम के नाटकों के साथ बाहरी रंगमंचीय प्रयोग के प्रभाव और दबाव में हुआ है। इस प्रभाव तथा दबाव के कई मनोरंजक पहलू सामने हैं। मसलन, पूरे नाटक में कोई विषय हो नहीं है—अगर है तो केवल वस्तु। पूरे नाटक में अनेक विषय हैं, पर वस्तु तक भी नहीं। विषय वस्तु के स्तर से यह पहला पहलू है।

इन्हीं नाटकों में विविध रंगशैली और परस्पर विरोधी रंगमंच-प्रकार एक ही साथ पाना; इनका दूसरा विचित्र पहलू है। और तीसरा पहलू है वह वस्तुविषय, जो इन नाटकों में लिया जा रहा है। वस्तुविषय बौद्धिक हो, पर उसका आधार हमारे जीवन का प्रसंग हो, तब भी किसी स्तर से वह ग्राह्य हो सकता है। किन्तु सारा का सारा बौद्धिक चमत्कार हो और जीवन प्रसंग भी 'आइनेस्को' के लोक का हो—और उसे भारतीय और समसामयिक सिद्ध करने के लिए दैनिक समाचारपत्रों के नाम, पात्रों, तथा घटनास्थलों के नाम अपने देश-प्रान्त से दे दिये जायें—और उसे अपना नाटक कहने का साहस किया जाय, यह आश्चर्यजनक लगता है। रचना-सृजन तथा अनुकरण का बुनियादी अन्तर यदि देखना हो तो आज इस तरह के भारतीय नाटकों में आसानी से देखा जा सकता है। ठीक उसी तरह जैसे आज की हमारी फिल्में, संगीत, तथा जीवन के विविध कला रूप, स्वरचना, आत्मसृजन की जगह अनुकरणधर्मी हो रहे हैं। सृजन प्रक्रिया में निहित अनेक मूल और गम्भीर कारणों के अतिरिक्त व्यावहारिक कारण यह है कि जब शिल्पविधि बाहर की होगी तो उसी की स्वाभाविक अनुरूपता में (बल्कि उसमें फिट होने वाला) विषय भी वैसा ही ढूंढना पड़ेगा यह विषयवस्तु अपने जीवन संदर्भों से निस्सन्देह दूर और अलग होगी, और उसे आत्मसात करना स्वभावतः एक कठिन समस्या होगी।

नाटक के विशेष संदर्भ से यह चिन्त्य है कि, कहीं यह सारा नाट्यलेखन काफी हाउस का संवाद ही न समाप्त हो जाये।

शिल्प के संदर्भ में सारी कलाओं तथा साहित्य प्रकारों में नाटक की समस्या सर्वथा एक दूसरे ही ढंग से सामने आती है। यहाँ यह शिल्प मात्र न रह कर रंग-

शिल्प के रूप में नाटक के कृतित्व में सदैव विद्यमान रहता है; शब्द और अर्थ की तरह। दूसरे यहाँ शिल्प, परिवेश और प्रभाव के भी रूप में विद्यमान तथा कार्यरत होता है। और जीवन संदर्भ की परिकल्पना परिवेश से अलग कभी नहीं की जा सकती। दोनों का अस्तित्व यहाँ पारस्परिक ही नहीं अपरिहार्य है।

परिवेश-प्रभाव कहीं और का हो और जीवन संदर्भ कहीं और का—नाटक में इससे अधिक चिन्त्य बात और क्या हो सकती है!

अपने निजी जीवन संदर्भों की खोज ही हर युग-काल के नाटक को एक दूसरे से अलगाती और यही तत्व उसे मौलिक बनाता है। इसी मौलिकता में रंगशिल्प की मौलिकता सहज ही फूट निकलती है। मौलिक प्रयोग में बाहर के वे सारे रंगतत्व यदि अनिवार्यतः आते हैं, तो वे बाहर के होते हुए भी अपने हो जाते हैं—जैसे ग्रीक के रंगमंच में पूरब के इतने सारे रंगतत्व और नाट्यविधान उसके अपने निजी होकर आये हैं। पर इस रचना में सृजन की ईमानदारी बुनियादी बात है, और इस बुनियादी बात का मतलब है अपने वास्तविक पर सार्थक जीवन के स्तर से जुड़ना और उनकी अनुभूति देना। इसके बिना नाटक बाहर से कितना आकर्षक, प्रयोगधर्मी होते हुए भी निर्जीव कंकाल मात्र रहेगा। जीवन का सार्थक अन्वेषण और उसकी परिस्थितियों को उनके अपने प्रकृत अर्थ से सम्बद्ध करना ही मौलिक नाट्य सृजन है। यहीं नाटक का सच्चा अर्थ है—जिसका अनुभव दर्शक रंगशाला में पाता है। यही अर्थ स्वभावतः तब विकृत हो जाता है जब हम इसे बाहरी परिस्थितियों से सम्बद्ध करते हैं। फिर तो अर्थ के विकृत होते ही पदार्थ या रचना का जीवन ही नष्ट हो जाता है।

□ □

हिन्दी रंगमंच और नाटक

हिन्दी रंगमंच—जिसका पहला और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदय भारतेन्दु काल में हुआ, दूसरा विकास 'प्रसाद' काल में और अंततः जिसका पर्यवसान बीसे दशक के आस-पास हो गया, यह पूरी रंगयात्रा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष ढंग से पारसी थियेटर के प्रभाव और उससे प्रतिक्रिया का दस्तावेज है।

पूरा पारसी रंगमंच और उसका नाट्यलेखन मूलतः पश्चिम के व्यावसायिक रंगमंच की नकल में, यहाँ विशुद्ध व्यावसायिक उद्देश्यों के कारण विकसित हुआ। यह 'बम्बई,' 'अहमदाबाद', 'कलकत्ता,' 'हैदराबाद,' 'लाहौर' चाहे कहीं पैदा हुआ, पर यह विकसित हुआ पूरे मध्यप्रदेश अर्थात् पूरे हिंदीभाषी क्षेत्र में। इसने इस क्षेत्र की धार्मिकता, राष्ट्रीयता, पुनरुत्थान की भावना, हिंदुत्व और इसकी समूची सांस्कृतिक स्थिति का व्यावसायिक उपयोग किया। पूरी हिन्दीभाषी जनता ने रंगमंच को अपनाया और इसको दर्शक की हैसियत से अपना उन्मुक्त संरक्षण दिया। पर इस विशेष युग और काल का बुद्धिजीवी—विशेषकर हिन्दी लेखक ने इसे पश्चिम का समझकर इससे अपने को दूर रखा और जैसे उस काल में बुद्धिजीवी का रुख उस काल के अंग्रेजों के प्रति 'असहयोग', 'सत्याग्रह' और 'संघर्ष' का था, वही दृष्टिकोण उसने इस 'थिएटर' के प्रति भी अपनाया। इसे उसने स्वभावतः 'भ्रष्ट', 'अश्लील,' 'कृत्रिम,' 'अराष्ट्रीय,' 'शत्रु' कहा और भारतेन्दु काल से ही उसने दो निश्चित रुख अपनाए :

(क) पारसी रंगमंच और नाटक को उसने 'थियेटर' और 'ड्रामा' कहा और इसे पूर्णतः विदेशी नकल मानकर इसे सर्वथा अछूत माना।

(ख) इसकी प्रतिक्रिया में उसने नाटक को रंगमंच से दूर कर इसे साहित्यिक बनाने के लिए इसे भाव, विषय और भाषा अभिव्यक्ति, सभी स्तरों से अत्यन्त गम्भीर, क्लिष्ट और उपदेशात्मक बनाया।

इसे किसी तरह संस्कृत नाट्य से जोड़कर, स्वदेशबोध, प्राचीन भारतीय गरिमा, शुद्ध भारतीय आदि से मंडित करना चाहा।

रंगमंचीय नाटक और साहित्यिक नाटक—ये दो दुर्भाग्यपूर्ण परस्पर विरोधी धाराएं हिन्दी में बहीं, इसका उद्गम बिंदु यही है। जबकि सच्चाई यह है (संस्कृत के भी सारे नाट्यशास्त्री और नाट्यकार मानते हैं) कि जो नाटक रंगमंचीय नहीं, अर्थात् जो मंचस्थ नहीं किया जा सकता उसे नाटक की संज्ञा ही नहीं दी जा सकती। जो 'रचना' मंच पर अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत 'रंगशाला' में बैठे हुए दर्शकों द्वारा रसारंजित नहीं होती वह कोई नाटक ही नहीं, उसमें चाहे जितनी 'साहित्यिकता' क्यों न हो? क्यों कि यहां अन्ततोगत्वा सर्वोपरि मूल्य 'रंग' या 'नाट्य' है, साहित्य नहीं। और इस बुनियादी मूल्य का प्रतिमान रंगमंच है। नाटक की रचनाप्रक्रिया नाटककार की कलम से शुरू होकर निर्देशक, अभिनेता, रंगशिल्पी और दर्शक तक पहुंचकर सम्पूर्ण होती है। इस बुनियादी सत्य की उपेक्षा अथवा अज्ञानता ने हिन्दी रंगमंच की जैसे कमर ही तोड़ डाली।

पारसी थियेटर के रंगकर्मी और नाटककार जिस तरह पश्चिम के रंगमंच का वास्तविक, मूल्यवान् 'ड्रामा' नहीं पकड़ सके, ठीक उसी तरह यहां के बुद्धिजीवी (उस काल के साहित्यकार) संस्कृत रंगमंच का मूलभूत 'नाट्य' नहीं पा सके। दोनों अपने कारणों से केवल बाह्य को, या ज्यादा से ज्यादा 'रूप' को पा सके, 'सौंदर्य' से दोनों वंचित रह गए। इसका कारण है—एक लंबे काल तक रंगमंच परंपरा में दुर्भेद्य व्यवधान।

इस काल में भारतेन्दु पहले ऐसे व्यक्ति हैं जिन्होंने इसी दुर्भेद्य व्यवधान को अपने ढंग से, अनेक प्रयासों से पाटना चाहा है, और स्वयं एक सेतु बन कर अपनी एक नई परंपरा को पाना चाहा है।

यह सच है कि हिन्दी क्षेत्र में लोकरंगमंच की परंपरा अबाध रूप से विद्यमान थी। रामलीला, कृष्णलीला, स्वांग, भगत, नौटंकी आदि सब थे। पर इनका संबंध उस बदले हुए समय, युगबोध से कतई नहीं था। राम या कृष्ण की कथा में न कोई परिवर्तन कर सकता था, न उस परंपरा के लोगों में यह प्रतिभा थी कि लीला, स्वांग, और नौटंकी को तत्कालीन स्थितियों से जोड़कर उसे जीवंत बनाने तथा उसमें समसामयिकता के तत्व भर देते। जैसे कि बंगाल

में उनके परंपरागत लोकनाट्य 'माचा' में हुआ और उसमें से आगे पैदा हुई एक नई नाट्यपरंपरा ।

हिन्दी में उस नयी नाट्यपरंपरा की एक सार्थक तलाश भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी' नाटक है। और यह एक तलाश भारतेन्दु ने कितनी लम्बी यात्रा तय कर की है। संस्कृत के सभी नाट्यकारों, रूपों को मिलाकर। 'रंगमंच' पर विचार करके और 'नाट्यमंडली' स्थापित कर, नाटकों के स्वयं अभिनय-निर्देशन कर। 'अंधेरनगरी' कितनी परंपराओं को अपने में पचाकर अपने समय में उत्पन्न सामाजिक जीवन का एक यथार्थ रूपक है—जिसकी भाषा, रूपबंध और समूचा रंगमंच हिन्दी की अपनी मौलिक कृति है। पर इसके बाद यह परंपरा वहीं की वहीं रुक गयी। और ठीक इसके विपरीत पारसी थियेटर विकसित होता रहा। विकसित इस अर्थ में कि वह समय के अनुसार राष्ट्रीय चेतना, धर्म और समाज की पुनरुत्थान की चेतना को अपना विषय बनाने लगा। इसलिये नहीं कि उसे इन विषयों में किसी प्रकार की स्वयं आस्था थी, बल्कि इसलिये कि उस काल का दर्शकवर्ग यही विषय चाहता था और इसी भावना में वह रंगा था।

पर यह विषयभावना उतना ही मिलता कि उस समय की अंग्रेजी हुकूमत की नजर में कहीं खटके नहीं। प्रथम महायुद्ध के बाद से तीसरे दशक के अन्त तक, यह इतना काल पारसी थियेटर का चरम सफलता का काल है—और हिन्दीभाषी क्षेत्र के लिये यह काल 'स्वदेशी आंदोलन,' 'असहयोग आंदोलन,' 'क्रान्तिकारी संघर्ष' का समय है। इसके जवाब में अंग्रेजी हुकूमत की ओर से क्रमशः यह 'रौलेट एक्ट', 'जलियांवाला हत्याकांड,' 'कम्यूनल एवार्ड' और दमन के अन्य क्रूर चक्र का काल है।

ऐसी परिस्थिति में पारसी थियेटर को दोधारी तलवार पर चलना पड़ा। हिन्दीभाषी क्षेत्रों की जनता की भावना का ख्याल, और अंग्रेजी हुकूमत से भय। इन दोनों परस्पर विरोधी स्थितियों का हल पारसी थियेटर ने ढूंढ निकाला। राष्ट्रीय चेतना, पुनरुत्थान की भावना पर इश्क, मेलोड्रामा, रोमानियत का चटक रंग चढ़ा देना। इसके बाद भी यदि कहीं राष्ट्रीय चेतना, भारत का गौरव, स्वदेश भावना, हिन्दुत्व दिखे, तो उसे अजीबोगरीब सीन सीनरियों, चमत्कारपूर्ण रंगमंचीय करिश्मों में इस तरह ढांप दिया जाय कि दर्शक उसी जादू से चमत्कृत रह जाय और इसके ऊपर गाने, 'रक्स', नाच वगैरह की चाशनी में सब कुछ अजीब ढंग से मीठा मीठा कर दिया जाय।

इस प्रसंग में यह एक बात और उल्लेखनीय है कि जैसे जैसे राष्ट्रीय चेतना हिन्दी भाषा और इसकी संस्कृति से जुड़ती गयी है, वैसे वैसे पारसी कंपनियां

ने धर्मकथावाचकों (राधेश्याम), हिन्दू धर्म, पुराण और इतिहास को उसी निष्ठा से देखने वाले नारायण प्रसाद 'बेताब' को महत्व देना शुरू किया। शुद्ध हिन्दी भाषा और हिन्दी के छंद, गीत और इतिहास, पुराण की सीधी कथा। राष्ट्रीय भावधारा, हिन्दुत्ववादिता, वतन की आवरू पर कुर्बान हो जाना—इसके कितने उदाहरण सारे पारसी नाटक में से दिए जा सकते हैं—

'....बेवकूफ सुन, अपने प्यारे वतन के दिल से मौत का डर दूर करने के लिये मुझे जिन्दा रहने की जरूरत थी, और शुक्र है कि मैं जिन्दा हूँ, लेकिन सोहराब के लिये नहीं, अपने मुल्क के लिये, मुहब्बत के लिये नहीं, अपने वतन की खिदमत के लिये....'

(आ. काश्मीरी : बाब दूसरा, सीन छठा, 'रुस्तम व सोहराब')

'कुसंग वासना कहे धर्म, तो कहना धिक्कार।
और परतंत्र का, संसार में रहना धिक्कार॥'

(द्रोणाचार्य : पहला अंक सातवाँ सीन, 'वीर अभिमन्यु')

'इधर देख, यह भारत की हिन्दू लड़की, जिसकी आत्मा में परमात्मा ने शकुंतला की खूबसूरती, सीता का पतिव्रत धर्म और राधिका का प्रेम जमा कर दिया है, इसके लिए मुहब्बत का बर्ताव और अपने वास्ते आज्ञाकारी स्वभाव....'

(रोमदास : पहला अंक, सीन छठा, 'विल्वमंगल')

'गाफिल पड़े सोते हैं जो, बैठे हुए वो मौन हैं,
समझो तो दिल में जान लें भारत निवासी कौन हैं।
जो वीर थे कायर बने, ज्ञानी बने अज्ञान हैं,
यह भी तो हैं भूले हुए निज बाप की संतान हैं।
जो कह दिया करके रहे थे बात के ऐसे धनी,
छोड़ा नहीं निज धर्म को प्राणों पे चाहे आ बनी।'

('बेताब'—'महाभारत', पहला दृश्य—प्रस्तावना)

पर ये सारी भावनाएँ, उद्‌गार, उपदेश, भाषण के रूप में आये किन्तु फिर भी इसे क्रमशः संतुलित किया (हल्के रखा) मुहब्बत की दीवानगी ने, राजा बहादुर और चटपट सिंह की विदूषकी ने, सौभाग्यचंद, मुरीदास मारवाड़ी बनियों, मिरासी, तबलची, तमाशबीनों के हास्य ने तथा चेला चमार, सखी गोपी के अति शिष्टाचार प्रसंगों ने।

बिल्कुल ठीक इसी के समानांतर इसी काल में जयशंकर प्रसाद अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक नाटकों में इसी पुनरुत्थान की भावना और

राष्ट्रीय गौरव को किशोर मन की भावुकता और छायावादी कुहेलिका से ढककर, उस पर अस्पष्टता का झीना सा आवरण चढ़ाकर अभिव्यक्त कर रहे थे। यह अत्यंत उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु ने ऐसा कहीं नहीं किया है। वह जहाँ हैं, वहाँ एक दम स्पष्ट सीधे हैं और उस पर उन्होंने पारसी थियेटर के नाट्यतत्वों को अपना माध्यम नहीं बनाया है। जो उन्होंने प्रकट करना चाहा है, उसके लिये उन्होंने पारसी थियेटर से स्वतंत्र अपना सर्वथा अलग रूपबन्ध तैयार किया है। इसका कारण था कि प्रसाद के विपरीत भारतेन्दु प्रत्यक्ष रंगमंच से जुड़े थे और स्वतन्त्र नाट्यपरंपरा के लिये संघर्षरत थे।

प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने नाटक का रूपबन्ध और रंगमंच का पूरा विधान सीधे पारसी थियेटर से ज्यों का त्यों ले लिया और पारसी थियेटर के विपरीत (प्रतिक्रिया स्वरूप) उन्होंने उसमें काव्यात्मकता, साहित्यिकता भर दी। यह बिलकुल वैसे हुआ, जैसे शराब की बोतल (विदेशी) में गंगाजल भर देना। यदि प्रसाद ने भारतेन्दु की परम्परा में रंगमंच को देखा होता, उससे वह प्रत्यक्ष सम्बन्धित होते तो निश्चय ही वह अनुभव करते कि काव्यात्मक वस्तुविषय के लिये पारसी रंगमंच का रूपबन्ध बिलकुल विपरीत पड़ता है। इससे भी आगे प्रसाद को अपने लिये एक रंगशैली का अन्वेषण भी करना था, जिसे वह अंततः नहीं कर सके। कथा और चरित्र विधान में पारसी थियेटर के विपरीत (मुख्यतः भाषा रूप की नाट्यकला के) उन्होंने तीन अंकों, अर्थात् चरमसीमा से आगे 'फलागम' (संस्कृत) और समाहार ('डिनाउमेंट'-शेक्सपियर) तक सोचा, और उसी के अनुरूप कथा, चरित्र और अंकरूप योजना बनायी। संस्कृत रंगमंच का नाटक 'आरंभ' से चलकर 'फलागम' तक पहुँचने के लिये, शेक्सपियर के थियेटर का 'ड्रामा' 'एक्स्पोज़ीशन' से लेकर 'समाहार' तक जाने के लिये पारसी थियेटर जैसे रूप विधान का सहारा न लेकर शुद्ध यथार्थवादी, काव्यात्मक (कल्पनिकता) रंगविधान को अपना माध्यम बनाता है—और तभी निर्देशक, अभिनेता और दर्शक की कल्पना, सृजन शक्ति को जगाता हुआ कई स्तरों पर अपने आपको निर्मित और संपूर्ण करता है।

पारसी थियेटर का सारा रंगविधान प्रसाद के नाट्यविषय और भावबोध से बिलकुल विपरीत पड़ने के कारण, नाटककार प्रसाद की शक्ति को कुंठित

राष्ट्रीय गौरव को किशोर मन की भावुकता और छायावादी कुहेलिका से ढककर, उस पर अस्पष्टता का झीना सा आवरण चढ़ाकर अभिव्यक्त कर रहे थे। यह अत्यंत उल्लेखनीय है कि भारतेन्दु ने ऐसा कहीं नहीं किया है। वह जहाँ है, वहाँ एक दो स्पष्ट सीधे हैं और उस पर उन्होंने पारसी थियेटर के नाट्यतत्वों को अपना माध्यम नहीं बनाया है। जो उन्होंने प्रकट करना चाहा है, उसके लिये उन्होंने पारसी थियेटर से स्वतंत्र अपना सर्वथा अलग रूपबन्ध तैयार किया है। इसका कारण था कि प्रसाद के विपरीत भारतेन्दु प्रत्यक्ष रंगमंच से जुड़े थे और स्वतन्त्र नाट्यपरंपरा के लिये संघर्षरत थे।

प्रसाद ने ठीक इसके विपरीत किया। उन्होंने नाटक का रूपबन्ध और रंगमंच का पूरा विधान सीधे पारसी थियेटर से ज्यों का त्यों ले लिया और पारसी थियेटर के विपरीत (प्रतिक्रिया स्वरूप) उन्होंने उसमें काव्यात्मकता, साहित्यिकता भर दी। यह बिलकुल वैसे हुआ, जैसे शराब की बोतल (विदेशी) में गंगाजल भर देना। यदि प्रसाद ने भारतेन्दु की परम्परा में रंगमंच को देखा होता, उससे वह प्रत्यक्ष सम्बन्धित होते तो निश्चय ही यह अनुभव करते कि काव्यात्मक वस्तुविषय के लिये पारसी रंगमंच का रूपबन्ध बिलकुल विपरीत पड़ता है। इससे भी आगे प्रसाद को अपने लिये एक रंगशैली का अन्वेषण भी करना था, जिसे वह अंततः नहीं कर सके। कथा और चरित्र विधान में पारसी थियेटर के विपरीत (मुख्यतः आगा हश्र की नाट्यकला के) उन्होंने तीन अंकों, अर्थात् चरमसीमा से आगे 'फलागम' (संस्कृत) और समाहार ('डिनाउमेंट'-शेक्सपियर) तक सोचा, और उसी के अनुरूप कथा, चरित्र और अंकरूप योजना बनायी। संस्कृत रंगमंच का नाटक 'आरंभ' से चलकर 'फलागम' तक पहुँचने के लिये, शेक्सपियर के थियेटर का 'ड्रामा' 'सम्प्रदान' से लेकर 'समाहार' तक जाने के लिये पारसी थियेटर जैसे रूप विधान का सहारा न लेकर शुद्ध यथार्थवादी, काव्यात्मक (कल्पनिकता) रंगविधान को अपना माध्यम बनाता है—और तभी निर्देशक, अभिनेता और दर्शक की कल्पना, सृजन शक्ति को जगाता हुआ कई स्तरों पर अपने आपको निर्मित और संपूर्ण करता है।

पारसी थियेटर का सारा रंगविधान प्रसाद के नाट्यविषय और भावबोध से बिलकुल विपरीत पड़ने के कारण, नाटककार प्रसाद की शक्ति को कुंठित

ही नहीं करता, उन्हें बिखेर देता है। पारसी थियेटर जैसे 'इश्क' और राष्ट्रीयता कि दो विरोधी धोड़ों पर चढ़ा था, ठीक उसी तरह प्रसाद की समूची नाट्यकला पारसी थियेटर और 'आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति' के परस्पर विरोधी अश्वों पर आसीन थी। जहाँ सारा हस्तक्षेप रंगे हुए पर्दों, सीन सीनरियों, और अभिनय से लेकर यांत्रिक प्रभावों तक सीमित है, वहाँ काव्य के लिये कल्पना और गहराई की कोई गुंजाइश नहीं हो सकती। वहाँ काव्य केवल संवाद में हो सकता है या गीतों में। यही प्रसाद के नाटकों में हुआ भी।

इतना ही नहीं प्रसाद के काव्यस्तर पर वही कथित, सूचित, पारिभाषिक राष्ट्रीयता, नवोत्थान, समाजसुधार का अतिस्वर छाया रहा—

'आर्य ! इस गुरुभार उत्तरदायित्व का सत्य से पालन कर सकूँ, और आर्य राष्ट्र की रक्षा में सर्वस्व अर्पण कर सकूँ, आप लोग इसके लिये भगवान् से प्रार्थना कीजिये और आशीर्वाद दीजिये कि स्कंदगुप्त अपने कर्तव्य से, स्वदेशसेवा से कभी विचलित न हो।'

(स्कंदगुप्त—मालव में मूर्धाभिषिक्त होने पर)

'सम्राट् यदि कोई साथी न मिला तो साम्राज्य के लिये नहीं जन्मभूमि के उद्धार के लिये मैं अकेला युद्ध करूँगा।'

(स्कंदगुप्त)

दो परस्पर विरोधी रंग प्रवृत्तियों के प्रयोग के कारण, तथा नाटक में पाठ्य आग्रह के कारण विषय, कथा, चरित्र और मंचविधान के स्तर पर अनेक सीमाएँ और सामने आती हैं।

एक ओर प्रसाद ऐतिहासिक नाटक लिखने के पीछे प्राचीन भारत के 'मौलिक इतिहास' के 'अन्वेषक' होना चाहते थे, दूसरी जैसे 'बेताब' और राधेश्याम ने क्रमशः 'महाभारत' और 'वीर अभिमन्यु' के समूचे महाभारत का सार और पूरी अभिमन्यु गाथा कह डालना चाहा है ठीक इसी तरह प्रसाद ने 'चन्द्रगुप्त' और 'स्कन्दगुप्त' में इतिहास कथाओं से दोनों कालों की समूची तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों को अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। और इन्हें 'नाटक' भी बनाना चाहा है। इसका फल यह हुआ कि इन दोनों नाटकों में 'वस्तुकाल' बहुत ही लम्बा हुआ है— ठीक वैसे जैसे 'बेताब' के 'महाभारत' में। 'चन्द्रगुप्त' का वस्तुकाल पच्चीस वर्ष का है (जो भारतीय नाट्यशास्त्र से वर्ज्य है, पर पारसी थियेटर के अनुकूल है)। इस लम्बे काल से किस प्रकार नाटक को हानि पहुँचती है, यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि जो लोग आरंभ

में किशोर या युवा थे, उन्हें स्वभावतः अंत में प्रौढ़ या वृद्ध हो जाना चाहिए। पर नाटककार 'बेताब' 'राधेश्याम' की तरह तथ्य पर ध्यान न देकर उन्हें वहीं रखा जाता है। और 'कार्नेलिया', 'कल्याणी', 'मालविका,' 'सुवासिनी', 'चन्द्रगुप्त,' 'चाणक्य' आदि पच्चीस वर्ष बाद भी युवा ही हैं। 'इतिहास' और 'नाटक' दोनों स्तरों पर ऐसी अनेक सीमाएँ दोष सामने आते हैं।

पारसी थियेटर में दर्शक को लुभाने तथा पूरी कथा बताने के लिए एक से एक चमत्कारमूलक दृश्यों की अवतारणा की जाती थी। 'चन्द्रगुप्त' में भी ऐसे चमत्कारमूलक दृश्यों के मोह ने इसे रचनागत बराबकता से भर दिया है। चार अंकों का यह नाटक उनचास दृश्यों में फैला है—जैसे 'बेताब' का 'महाभारत'। घटनावैचित्र्य लाने के लिये अकारण दृश्य बढ़ाए गए हैं और पात्र भी। चन्द्रगुप्त का कल्याणी को चीते से और कार्नेलिया को मनुष्यरूपी चीते फिलिप्स से बचाना, 'रुस्तम' की याद दिलाता है। इसमें और भी अनेक घटनाएँ, कृपाण युद्ध, कामव्यापार, विशुद्ध पारसी थियेटर के समान होने के कारण नाटक को अनावश्यक रूप से अतिरंजनाप्रधान बनाते हैं, और इसके काव्यत्व को स्वभावतः तोड़ते हैं।

अंकों की शुरुआत 'रुस्तम सोहराब' के मिलन की याद दिलाता है, पर इनके अंत झाँकी (टैब्लो) विधान के अनुरूप होते हैं और 'बेताब' 'राधेश्याम' का प्रभाव सामने आता है। दृश्य, प्रवेश, प्रस्थान, कार्यव्यापार—इन सब पर 'हश्र', 'बेताब,' डी० एल० राय,' राधेश्याम के परस्पर विरोधी प्रभाव लक्षणीय हैं। अंततः प्रसाद की कोई रंगशैली तभी स्पष्ट उभरकर नहीं आती।

लगता है प्रसाद ने अपनी इस रंगमंच सीमा को 'ध्रुवस्वामिनी' तक पहुँचते-पहुँचते स्वीकार किया है और 'ध्रुवस्वामिनी' में वह यथार्थवादी रंगमंचशैली की ओर झुके हैं। इससे पहले के किसी भी नाटक में उन्होंने दृश्यसज्जा या मंच दृश्य का इतना विधिवत् विधान नहीं किया है। केवल 'स्कंधावार,' 'राजप्रासाद', 'प्रकोष्ठ,' 'श्मशान', 'युद्धस्थल' आदि एक शब्द से वह पूरे दृश्य का संकेत कर देते थे; पर यहाँ ध्रुवस्वामिनी में उन्होंने आवश्यक दृश्यों का विधिवत्, नाटकीय हेतु चयन किया है। पर ध्यान देने की बात यह है कि यथार्थवादी रंगमंच जैसा उनका नाट्यविधान ही नहीं है। सभी मंचसामग्री, मंचविधान नाटक के जीवन से सम्मिलित न हो, मात्र इसकी शोभा के रूप में इस्तेमाल हुआ है। जबकि यथार्थवादी मंच की प्रत्येक वस्तु, मूक पात्र के रूप

में सजीव ढंग से नियोजित होती है और उनसे व्यंजना, मार्मिकता पैदा की जाती है। यह सब 'ध्रुवस्वामिनी' की नाट्य कृतियों से बाहर की बातें हैं।

इन सब सीमाओं के बावजूद प्रसाद के नाटक की कुछ उपलब्धियाँ उल्लेख-नीय हैं, जिन्हें उनकी रंगमंचगत सीमाओं से बेध कर प्राप्त किया जा सकता है।

काव्यतत्व, प्रमुख उपलब्धि है, जो नाटक को सही अर्थों में नाटक सिद्ध करते हैं। इसी तत्व से मुख्यतः 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी,' में एक अजब तरह का सम्मोहन है, जो आज तक बना हुआ है।

उन्होंने इतिहास पुराण को पारसी थिएटर के नाटककारों की तरह न देख-कर उसे अपने समय से जोड़ा है और इस तरह उसकी रचना भी की है। अपने समय की समस्त राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक चेतना को उन्होंने अपने ढंग से छुआ है और उनकी ऐतिहासिक मानवीय गहराइयों में ले गये हैं।

रूपतत्व के साथ काव्यत्व को जोड़ने का प्रयत्न इनमें उल्लेखनीय है। इसी लिये पारसी थिएटर को सर्वथा भूलकर या काटकर यदि कल्पना की आँखों से 'स्कन्दगुप्त' को देखा जाय तो एक महत्वपूर्ण नाटक और रंगमंच उसमें से उभरता है। ऐसा रंगमंच जो सिर्फ़ दीर्घजीवी स्थापत्य, वस्त्र रंग रूप सबको और सार्थक संकेत देता है।

उनके चरित्रों में कई आयाम हैं; जो उन्हें उनके परिवेश से जोड़कर मानवीय और नाटकीय दोनों गुणों से मंडित करते हैं। उनमें गम्भीर संघर्ष छिपा है, वे चरित्र से व्यक्तित्व प्राप्ति की ओर बढ़ते सिद्ध होते हैं, और कभी-कभी तो वे सचमुच 'संगीत की अंतिम लहरदार तान छोड़कर' हमारे मानस में घर कर लेते हैं 'स्कंदगुप्त', 'देवसेना' ऐसे ही अप्रतिम चरित्र हैं।

प्रसाद ने 'स्कन्दगुप्त', 'ध्रुवस्वामिनी' नाटकों में, पारसी थिएटर से सर्वथा अलग, पूर्वापर ध्यान दिया है और नाटक की कथावस्तु, चरित्र को ऐसे नाटकीय बिंदु से उभारा है जहाँ से वर्तमान और पूर्ववर्ती घटनाओं और क्रियाओं से कलात्मक संबंध जोड़ते चलते हैं।

अन्य नाटककार

इस काल के अन्य नाटककारों में उल्लेखनीय हैं –

लक्ष्मीनारायण मिश्र

सेठ गोविंद दास

हरिकृष्ण प्रेमी

जिस प्रकार नाटककार प्रसाद के भीतर भारत के अतीत के प्रति आस्था, कवि का भावुक व्यक्तित्व, तथा पारसी थियेटर का सम्बंध और रंगविधान के स्तर पर प्रभाव और विषयवस्तु, भाषा, चरित्र आदि के प्रति गहरी प्रतिक्रिया, प्रमुख शक्तियों के रूप में कार्यरत थीं, ठीक उसी प्रकार नाटककार मिश्र के भीतर प्रसाद की काव्यात्मकता के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया, पारसी थियेटर के प्रति तीव्रतर दुराव और इनके स्थान पर इब्सन के नाटकों के रंगविधान की स्वीकृति कार्य कर रही थी। इन्होंने सबसे पहले भावात्मकता के विरुद्ध 'बुद्धिवाद' का स्वर बुलंद किया :

'आँख मूँदकर स्वीकार कर देने से श्रेयस्कर है, आँख खोलकर अस्वीकार करना। आज जिसे हम बुद्धिवाद या बौद्धिक मीमांसा कहते हैं, उसके मूल में यही प्रेरणा काम कर रही है'''मेरा अपना विश्वास तो यह है कि बुद्धिवाद स्वतः अनंत विश्वास है। उसमें भ्रम और मिथ्या को स्थान नहीं''' बुद्धिवादी व्यभिचारी भी हो सकता।'

(मैं बुद्धिवादी क्यों हूँ ?''''मिश्रजी 'मुक्ति का रहस्य' की प्रथम संस्करण की भूमिका, पृष्ठ ४)

बुद्धिवाद से स्वभावतः व्यक्तिवाद को जोड़कर मिश्रजी ने व्यक्तिगत नैतिकता, सामाजिक नीतिनिर्वाह के क्षेत्र में बड़े ही निर्भीक और स्वतंत्र ढंग से सोचा। इन दोनों क्षेत्रों में 'सचाई जो है, जिस रूप में है, उसे तो वह स्वीकार कर लेता है, लेकिन उस पर कितने वेष्टन चढ़े हैं, उसे कितने कपड़े और गहने पहनाये गये हैं, वह कितनी जंजीरों में बाँधी गई है, इन बातों को वह स्वीकार नहीं करता।' 'संन्यासी' (१९३०), 'राक्षस का मन्दिर' (१९३१) लिख चुकने के बाद 'मुक्ति के रहस्य' की भूमिका में इन्होंने बड़े विश्वास के साथ 'बुद्धिवाद' की स्थापना की। कहा 'बुद्धिवाद किसी तरह का हो, किसी कोटि का हो, समाज या साहित्य की हानि नहीं कर सकता। बुद्धिवाद में शुगरकोटेड कुनैन' की व्यवस्था है ही नहीं। यह तो तीक्ष्ण शस्त्र है। उसका घाव गहरा तो होता है लेकिन अंगभंग करने के लिये नहीं। मवाद निकालने के लिये, हमारी प्रसुप्त चेतना को जगाकर हमारे भीतर नवीन जीवन और नवीन स्फूर्ति पैदा करने के लिये।'

इस बुद्धिवाद और व्यक्तिवाद के भीतर से मिश्रजी ने नाटक सम्बन्धी जो मान्यताएँ बनायीं, उन्हें इन बिन्दुओं से देखा परखा जा सकता है :

बुद्धि और तर्क के भीतर से ही यथार्थ की अभिव्यक्ति नाटक में हो सकती है, भावना या कल्पना से नहीं।

यही और ऐसा ही यथार्थवादी नाटक, नाटक कहलाने का अधिकारी है। इन दोनों मानबिन्दुओं को देखने से प्रकट है कि यथार्थवाद की यह प्रेरणा इन्होंने इब्सन से ली। मतलब जहाँ पारसी नाटक और रंगमंच, तथा प्रसाद का नाटक और रंगमंच शेक्सपियर और विक्टोरिया नाट्यपरंपरा से प्रत्यक्ष ढंग से जुड़ा है, वहाँ इन्होंने इन दोनों की प्रतिक्रिया में, अपने 'नाट्य' का सम्बन्ध उससे आगे बढ़कर इब्सन से जोड़ा।

पर 'इब्सन' के नाट्य का 'यथार्थवाद' वह नहीं है जो मिश्रजी ने ग्रहण किया। वह महज उसके 'यथार्थ' का बाहरी ढाँचा है, जो ऊपर से 'समाज सुधार,' 'समाजालोचन' और परंपरा के प्रति 'विद्रोह' सा दिखता है। यह यथार्थ उतना ही नहीं है जो परस्पर वादसंवाद की भाषा में (वाद विवाद) प्रकट होता है, या घर गृहस्थी कमरे या ड्राइंगरूम के परिवेश के भीतर से अपने को प्रत्यक्षतः प्रकट कराता दिखता है। वह यथार्थ नहीं, बहुतर यथार्थ इन सब साधनों से कहीं आगे अप्रत्यक्ष रूप से विकसित, स्वनिर्मित होकर काव्यात्मक यथार्थ के धरातल पर आ पहुँचता है।

और बुनियादी सवाल यही उभरता है—मिश्रजी ने इब्सन से यह बाहरी यथार्थ ही क्यों ग्रहण किया? क्यों उन्होंने इब्सन के सम्पूर्ण यथार्थवादी रंगमंच को नहीं लिया? उन्होंने क्यों प्रत्यक्ष बुद्धि, तर्क के ही सहारे मानव समस्या का केवल सामाजिक 'समस्या' के ही स्तर से सोच विचार किया?

दरअसल नाटक के रंगमंच की दुनियाँ एक अप्रत्यक्ष संसार है। यूँ वह प्रत्यक्ष तो सबसे ज्यादा है, पर नाटक का यह प्रत्यक्षीकरण अभिनेता, निर्देशक, रंगशिल्पी की मध्यस्थता से मंच पर दर्शक के सामने होता है। यह एक विशिष्ट विद्या ही नहीं, सब विद्याओं से ज्यादा यह दूसरों से (दूसरी कलाओं, मनुष्य, कलाकार, अनुभव, सृजन) संपृक्त है।

पारसी थिएटर की प्रतिक्रिया में यही संपृक्तता पहले प्रसाद से टूटी, और प्रसाद के बाद दूसरी प्रतिक्रिया से यह 'मिश्र', 'सेठ,' 'प्रेमी' आदि के द्वारा तोड़ी गयी। 'प्रसाद' काव्यात्मकता को लेकर टूटे, पर ढाँचा 'पारसी थिएटर' का ही रक्खा। इसलिये वह कैसे भी हो, रंगमंच के विधान के अन्दर कहीं न कहीं संपृक्त है। काव्यात्मकता उस टूटन में कहीं महत्वपूर्ण सेतु भी बनी है। यह सब इसलिए भी हुआ कि प्रसाद ने यथार्थ को कवि के धरातल से ग्रहण किया और उनका नाटककार 'व्यक्ति' की अपेक्षा मानवीय 'सामाजिक' ज्यादा रहा।

'प्रसाद' के बाद इन सभी नाटककारों (गोविन्द बल्लभ पंत को छोड़कर) ने रंगमंच से सर्वथा कटकर जिस दुनिया में जाकर नाटकों को लिखा, उसे यदि हम कोई वास्तविक नाम देना चाहें तो निश्चित संज्ञा दे सकते हैं :

भाषा का रंगमंच
प्रस्ताव, थीसिस, प्रबन्ध का नाट्य
कथात्मक रंगविधान का अभाव

भाषा का आत्यन्तिक प्रयोग पारसी थिएटर और 'प्रसाद' दोनों में हुआ है। पारसी थिएटर में इसके अति प्रयोग के पीछे दो कारण थे। वहाँ अभिनेता एक ही बात को, भावना को दो तरह से दुहरे ढंग से कहता था—पहले वह दर्शक को बताता था, फिर वही स्वयं गाकर (मुख्यतः बहरेतवील और अन्य छंदों में) उसी का अभिनय करता था, दूसरे उसमें 'प्रचारक' का अत्यधिक हस्तक्षेप था, इसलिये भाषा का अराजक प्रयोग हुआ था। पर बुनियादी ढंग से इस भाषा-प्रयोग में अभिनेता इसके भीतर विद्यमान था और साथ ही इसमें दर्शक भी शामिल था—अतएव भाषा का यह अतिप्रयोग रंगमंच में घुलमिल गया था। इसी के अनुरूप उसमें अतिरंजनाप्रधान, चमत्कारमूलक घटनाएँ और कार्यव्यापार थे, इसलिए भी भाषाप्रयोग की यह अराजकता उसका अभिन्न अंग बन जाती थी। 'प्रसाद' में वही अभिनेता और दर्शकबोध पारसी थिएटर की तुलना में, भाषा के भीतर से कुछ दूर छूट गया। इससे जो अन्तर पैदा हुआ उसमें दो नये तत्व आ घुसे :

साहित्यिकता
व्याख्याकार

और यहाँ 'प्रचारक' के स्थान पर कवि का हस्तक्षेप आ गया।

प्रसाद के बाद मिश्र, सेठ, प्रेमी के भाषाप्रयोग में वही 'अभिनेता' और 'दर्शक' अपेक्षाकृत गायब हो गये। इनके स्थान पर क्रमशः आ गए परस्पर बाद विवाद करने वाले स्त्रीपुरुष (चरित्र नहीं) और 'पाठक'। और ये प्रचारक, कवि के स्थान पर तार्किक 'वकील' और 'बुद्धिजीवी लेखक' हो गए। इस सूचन भूमिका पर, जब इन नाटककारों ने 'इतिहास', 'पुराण' की कथा-वस्तु और चरित्र लिये तो अपनी संस्कृति से स्वयं को जोड़ने के लिए 'हरप्रसाद', 'प्रसाद', डी० एल० राय', पारसी थिएटर सबको बुद्धिद्वारा लेघते हुए सीधे ये भरतमुनि तक पहुँचे और अपने नाट्य का सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ने लगे।

'असत्य को सत्य करने की यह विचित्र पद्धति शेक्सपियर के नाटकों तक अपने देश में चलती रही। इब्सन ने शेक्सपियर के विरुद्ध प्रतिक्रिया की, पर हमारे दुर्भाग्य से द्विजेन्द्र लाल राय ने आँख मूँदकर शेक्सपियर का अनुकरण किया और यह अनुकरण देश की सभी भाषाओं पर छा गया। अब समय आया है जब इस देश के साहित्यकार अपने प्राचीन सिद्धान्तों को समझें और अब से भी अपना सम्बन्ध अपने पूर्वजों से जोड़ें।'[1]

इस सम्बन्ध जोड़ में भी इन्होंने संस्कृत रंगमंच के 'कवित्व' और 'कल्पना' को नहीं ग्रहण किया, और इसके लिये जो तर्क दिया वह 'इब्सन' के प्रभाव में आकर दिया।

"'' 'काव्येषु नाटकं रम्यम्'''भरत के इस कथन से यह निश्चित हो जाता है कि लोकवृत्ति का चित्रण, उत्तम, मध्यम और अधम मनुष्यों के आचार, क्रियाकलाप का निदर्शन नाटक या साहित्य का कोई भी अंग हो सकता है। लोकवृत्ति प्रकृति की बनाई है। कोई कवि कल्पना से उसका निर्माण नहीं करता।'[2]

जाहिर है जहाँ सारा रंगमंच 'माया' का है वहाँ 'नाट्य' को कवि कल्पना से क्या मतलब? वहाँ मतलब होगा ऐसी अतिनाटकीय स्थितियों से नहीं बचकर—

[3] आर्य अनार्य, ब्राह्मण शूद्र, धर्म और संस्कृति, दर्शन और कर्म, वेदांत और आनन्द, 'श्रेय और प्रेय,' ('अशोक', 'राक्षस-मन्दिर', 'नारद की वीणा', 'वत्सराज,' 'दशाश्वमेध') तथा व्यक्ति और समाज, नैतिकता बनाम अनैतिकता, राक्षस बनाम देवता, काम और सेवा, आचार बनाम दुराचार, सामाजिक भ्रष्टाचार और व्यक्ति, हिंसा और सद्वृत्ति ('संन्यासी,' 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का रहस्य,' 'सिंदूर की होली') पर वाद और विवाद और बहस हो सके। हाँ माया के नीचे भावों से असत्य का 'पर्दाफाश' किया जाय।

---

1. 'दशाश्वमेध', मिश्रजी, भूमिका, पृष्ठ १३।
2. वही।
3. लक्ष्मीनारायण मिश्र।

¹ जहाँ हिन्दू धर्म की उदारता बनाम मजहबी कठमुल्लापन, हिन्दू मुसलमान की एकता, समाज और इन्सानियत, छूत अछूत, साम्प्रदायिकता और राष्ट्रीयता, मराठे, राजपूत और हिंदुत्व बनाम मुगल संस्कृति ('रक्षा बन्धन', 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग', 'आहुति') और

² राम बनाम गांधी, कर्तव्य और अधिकार, क्रान्ति और शांति, बुद्ध धर्म बनाम ईसाई धर्म, संस्कृति और वर्णभेद, पाश्चात्य बनाम भारतीय जीवनदृष्टि ('राम से गांधी', 'कर्ण', 'हर्ष', 'शेरशाह', 'शशिगुप्त') तथा समाज और शोषण उद्धार, पापपुण्य, हिंसा अहिंसा सेवा और महत्व, व्यक्ति और दुःख ('दलितकुसुम', 'त्याग का ग्रहण', 'हिंसा या अहिंसा', 'बड़ा पापी कौन ?', 'महत्व किसे ?', 'दुःख क्यों') आदि ऐसे अनगिनत नाटकों से पाठकों, मुख्यतः विद्यार्थियों को इन विषयों पर समुचित प्रकाश मिले। उन्हें 'ज्ञान' भी हो और 'प्रकाश' भी प्राप्त हो।

"मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है। '' प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रखा है, ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा।[3]

मानवीय विषयों और समस्याओं पर वाद-विवाद करने का तथ्य 'इब्सन' में मूल था, पर वहाँ ('डाल्स हाउस', 'घोस्ट' आदि) हर नाटक में विषय एक ही था और समस्या भी एक ही ली जाती थी और नाटक का सारा यथार्थवादी ढाँचा, अपनी तमाम 'बातों' 'वाद विवादों', 'तर्कों' के बावजूद का रंगमंचीय 'कार्य' से उद्भूत होता था। यहाँ इन नाटकों में—प्रत्येक नाटक में कई विषय, कई समस्याएँ होती हैं, और प्रत्यक्षतः इसका सारा रंगमंचीय विधान न किसी एक निश्चित 'कार्य' से उद्भूत होता है, न किसी नाटकीय चरम परिणति से इसका कोई सम्बन्ध जुड़ता है।

मानवीय भावनाओं, क्रियाओं प्रतिक्रियाओं पर व्याख्या, टीका टिप्पणी, चरित्रों के मनोवेग को सूचित परिभाषित करने की परम्परा संस्कृत नाट्य से

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी।

२. सेठ गोविन्ददास।

३. 'कीर्ति स्तंभ,' हरिकृष्ण प्रेमी, भूमिका, पृष्ठ ७।

¹ जहाँ हिन्दू धर्म की उदारता बनाम मजहबी तास्सुब, हिन्दू मुसलमान की एकता, समाज और इंसानियत, छूत अछूत, सांप्रदायिकता और राष्ट्रीयता, मराठे,राजपूत और हिंदुत्व बनाम मुगल संस्कृति ('रक्षा बन्धन', 'शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग', 'आहुति') और

² राम बनाम गाँधी, कर्त्तव्य और अधिकार, काल और क्रांति, बुद्ध धर्म बनाम ईसाई धर्म, संस्कृति और वर्णभेद, पाश्चात्य बनाम भारतीय जीवनदृष्टि ('राम से गाँधी', 'कर्ण', 'हर्ष', 'शेरशाह', 'शशिगुप्त') तथा समाज और शोषण उद्धार, पापपुण्य, हिंसा अहिंसा सेवा और महत्त्व, व्यक्ति और दुःख ('दलितकुसुम', 'त्याग या ग्रहण', 'हिंसा या अहिंसा', 'बड़ा पापी कौन ?', 'महत्त्व किसे ?', 'दुःख क्यों') आदि ऐसे अनगिनत नाटकों से पाठकों, मुख्यतः विद्यार्थियों को इन विषयों पर समुचित प्रकाश मिले। उन्हें 'ज्ञान' भी हो और 'प्रकाश' भी प्राप्त हो।

"मैंने नाटकों की रचना निरुद्देश्य नहीं की है।... प्राचीन इतिहास हमारी शक्ति और दुर्बलता का दर्पण है। मैंने बार-बार यह दर्पण अपने देशवासियों के सम्मुख रक्खा है, ताकि हम अपने देश के अतीत को देखकर व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन से उन दुर्बलताओं को दूर करें, जिन्होंने हमें पराधीनता के पाश में बाँधा।"³

मानवीय विषयों और समस्याओं पर वाद-विवाद करने का तत्त्व 'इब्सन' में खूब था, पर वहाँ ('डाल्स हाउस', 'घोस्ट' आदि) हर नाटक में विषय एक ही था और समस्या भी एक ही ली जाती थी और नाटक का सारा यथार्थवादी ढाँचा, अपनी तमाम 'वादों' 'वाद विवादों', 'तर्कों' के बावजूद का रंगमंचीय 'कार्य' से उद्भूत होता था। यहाँ इन नाटकों में—प्रत्येक नाटक में कई विषय, कई समस्याएं होती हैं, और प्रत्यक्षतः इसका सारा रंगमंचीय विधान न किसी एक निश्चित 'कार्य' से उद्भूत होता है, न किसी नाटकीय चरम परिणति से इसका कोई सम्बन्ध जुड़ता है।

मानवीय भावनाओं, क्रियाओं प्रतिक्रियाओं पर व्याख्या, टीका टिप्पणी, चरित्रों के मनोवेग को सूचित परिभाषित करने की परम्परा संस्कृत नाट्य से

---

१. हरिकृष्ण प्रेमी।
२. सेठ गोविन्ददास।
३. 'कीर्ति स्तंभ,' हरिकृष्ण प्रेमी, भूमिका, पृष्ठ ७।

लेकर शेक्सपियर, पारसी थियेटर और 'प्रसाद' तक हमें मिलती है। पर यहाँ यह विशिष्ट तत्व उसके रंगमंच प्रकार और अभिनय शैली के भीतर से आता है। यहाँ सारे रंगमंच की प्रकृति ही ऐसी है।

पर यहाँ रंगमंच की प्रकृति और उसकी रंग शैली परस्पर विरोधी शैलियों के घालमेल तथा गड़बड़ के कारण और मूलतः इसमें जीवित रंगमंचप्रयोग की विहीनता के कारण 'पाठ्य' तत्व प्रमुख हुआ। और उसमें भी संस्कृति, इतिहास जीवनादर्श जैसे भारी भरकम विषयों का भार पड़ा। फलतः यहाँ सब कुछ 'मूल रूप से 'कहा गया', 'लिखा गया', 'बताया गया', 'विचार विनिमय हुआ'—'जिया और 'रचा' नहीं गया।

पारसी थियेटर या पश्चिमी 'ड्रामा' के दबाव और प्रतिक्रिया स्वरूप और अपनी रंगआस्था के फलस्वरूप भारतेन्दु और 'प्रसाद' में रंगमंच और अभिनय शैली की जो तलाश है, प्रयत्न है, वह यहाँ सर्वथा लुप्त है। यहाँ सारा इतिहास संस्कृति, जीवनादर्श, राष्ट्रीयता, व्यक्तिसमाज के विचार स्तर पर है।

इन नाटककारों के नाट्यचरित्र कर्म करने की अपेक्षा बोलते ज्यादा हैं। पारसी थियेटर में चरित्र बोलते भी थे, और वही कार्य भी करते थे — ठीक जैसे शेक्सपियर और संस्कृत रंगमंच में चरित्र करते थे। वहाँ वस्तुतः 'कार्य', 'कथन' और कार्य संपादन के धरातलों पर, उस रंगमंचप्रकृति के अनुकूल प्रस्तुत होता था। 'कथन', 'संभाषण', कल्पना जगाने, सूचना देने के उद्देश्य से और वही कार्यसंपादन 'दृश्यत्व' के लिये होता था। अर्थात् एक ही बोध को शब्द से लेकर कार्य तक गतिमान करना, वांछित देखना, ताकि उसमें मानवीय गति, कार्यबोध पैदा हो।

पर यहाँ 'बोलना' प्रायः वादविवाद, मानसिक संघर्षों के सूचनार्थ और आत्मप्रदर्शन के ही स्तर पर होता है। इसलिये यहाँ नाट्य संप्रेषणीयता अपेक्षाकृत 'पाठ्य' के ही स्तर पर होती है। यहाँ अनेक दृश्यों के अभिनय, बल्कि कुछ संपूर्ण नाटकों के अभिनय केवल बैठकर ही, बिना उठे, घूमे ही किया जा सकता है। इनका जैसे विश्वास था कि नाटक रेडियो माध्यम जैसे बोलकर, संवादों द्वारा ही प्रस्तुत हो सकता है। जैसे रंगमंच नहीं, 'भाषा रंगमंच'।

यहाँ चरित्र—ऐतिहासिक, पौराणिक और सामाजिक सभी प्रकार के नाटकों में, अपने संघर्षों को अनुरूप भाषा, दग्ध वाक्यांशों, आश्चर्यजनक संभाषणों, तीव्र वादविवादों द्वारा ही प्रकट करते हैं। जैसे प्रायः चरित्र

पाठकरूपी न्यायाधीश और जूरी (दर्शक) के सामने, विचारों के विविध कठघरों में खड़े हो वकील की तरह परस्पर बहस कर रहे हों और विचारों, स्थापनाओं के लिये नज़ीरें, गवाहियाँ, उक्तियाँ, उद्धरण आदि पेश कर रहे हों। इसी का एक फल यह भी है कि इन सभी नाटकों में एक से एक सूक्तियाँ, आप्तवाक्य, सूत्रवचन और महावाक्य भरे पड़े हैं। इसे निश्चय ही 'बुद्धि' और 'भावना' प्रयोग का फल ही कहा जा सकता है।

'भाषा रंगमंच' के कारण इन नाटकों में विषय 'प्रस्ताव थीसिस' प्रबन्ध की भूमि खूब स्पष्ट होकर सामने आती है।

'प्रसाद' जहाँ पारसी थियेटर की प्रतिक्रिया और अपनी आस्थावश भारत के इतिहास की वास्तविकता पर बल दे रहे थे, और इससे उस पूरे काल की सांस्कृतिक स्थिति नाटक में झलक आती थी—ठीक इससे आगे अब नाटक ऐतिहासिक, पौराणिक न होकर विशुद्ध 'सांस्कृतिक' होने लगे; अपने कथ्य और उद्देश्य इन दोनों धरातलों से।

हर नाटक एक पूर्व निश्चित, निर्धारित प्रस्ताव, थीसिस या प्रबन्ध मूल्य पर आधारित हुआ।

'···धर्म के कल्याण के लिये कभी कभी ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो देखने में अधर्म प्रतीत होते हैं।'—(अशोक, मिश्रजी)

'नारद (भारतीय संस्कृति की) आत्मा है, आप बुद्धि और नर शरीर हैं।'

(नारद की वीणा — मिश्रजी)

'राक्षस का मंदिर लिखने के बाद मुझे यह नाटक 'मुक्ति का रहस्य' लिखना अनिवार्य हो उठा। कुछ तो इसलिये कि उस नाटक में जीवन के जिस पहलू पर मैंने प्रकाश फेंका था सदाचार और परंपरा···' (भूमिका, 'मुक्ति का रहस्य'—मिश्रजी)

'हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं। उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े से साहित्यकार कर रहे हैं। इसी लक्ष्य को सामने रखकर 'ऐतिहासिक नाटक' ('रक्षा बन्धन', शिवासाधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न भंग' 'आहुति' आदि)

(भूमिका 'शिवासाधना', हरिकृष्ण 'प्रेमी')

'एक आदमी एक से ज्यादा औरतों से और औरत एक से ज्यादा आदमियों से एक ही वक्त में प्रेम नहीं कर सकती। ('वंचित कुसुम'—सेठजी)

'प्रेम का अर्थ यदि मैंने कुछ है समझा, तो यह, देना, देकर देना है, लेना नहीं।'
('न्याय या प्रश्न'—सेठजी)

'यदि वर्ण और वंश का महत्व है, तो वह तो भूतकाल को महत्व देना हुआ। अर्जुन को यदि अपने अतीत काल का गर्व है, तो मुझे वर्तमान का एवं भविष्य का।'
('कर्ण'—सेठजी)

वस्तुतः ये सारे नाटककार मानववादी थे। राष्ट्रीय संग्राम और पुनरुत्थान की भावना से बहुत नजदीक से जुड़े थे। अतएव इनमें हर बिन्दु पर आदर्श और यथार्थ, परम्परा और विद्रोह, पुराना और नया के बीच इनके निश्चित विश्वास, भावनाएँ तथा विचार थे। उन्हीं को ये लोग नाटक में विषयवस्तु बनाते थे। उसी को अनेक तर्कों और उपायों से सिद्ध करते और खंडित मंडित कर अपने एक पूर्वनिश्चित हल पर पहुँचते थे। यही कारण है कि इन सभी नाटककारों की नाट्यरचनाएँ गठन पाठन, ज्ञान बुद्धि और तर्कों पर खड़ी हैं अनुभूति और व्यंजना पर नहीं। 'भावप्रबोध' की प्रकृति से स्पष्ट है कि ये सभी अपने एक निश्चित विचार, संवेदना, प्रबंधबोध के चारों ओर भावासंवाद का मकड़ी जाल बुनते रहते हैं। इस बुनावट में सर्वत्र वहीं बुद्धि, भावना और तर्क के फंदे मिलेंगे।

तभी यहाँ हर नाटक का आरम्भ एक विचार, एक प्रस्ताव, एक समस्या का 'आरम्भ' है और बीच का सारा भाग उस समस्या पर विचार-विनिमय, वादप्रतिवाद का 'मध्यभाग' है, और अंत उस विचार, प्रस्ताव और उस समस्या की समाप्ति, हल या उपसंहार का है। यहाँ नाटक की समस्या 'इब्सन', 'शेक्सपियर', 'प्रसाद' की तरह अपने पूर्व पर नहीं टिकी होती, न वह भविष्य के लिये छोड़ ही दी जाती है, वरन् प्रस्ताव, प्रबंधबोध के अनुरूप हर नाटक के साथ समस्या शुरू होती है और उसके अंत में वह समस्या समाप्त हो जाती है। मिश्रजी और 'प्रेमी' इसमें अत्यंत कुशल हैं। सेठजी आदि और अंत के बारे में उतने निश्चित और स्पष्ट नहीं हैं, इसके लिये इन्होंने अपने नाटकों में 'उपसंहार' का सहारा लिया है; ताकि एक शिक्षक, नेता, सुधारक, बुद्धिजीवी के चिंतन का प्रभाव पैदा हो, और समस्या कहीं से भी शेष न रह जाय।

मिलाती में यदि वह कहीं मिल रहने लगती है तो वह 'प्रायश्चित्त' नाटक में वीरसेन द्वारा विश्वनाथसिंह का मन्दिर बनवा देते हैं, 'राक्षस का मन्दिर' में मुनीश्वर (राक्षस) द्वारा मातृमन्दिर—विधवा आश्रम खुलवा देते हैं।

इन नाट्य तत्त्वों का अंततोगत्वा प्रभाव इनके नाट्यविधान पर पड़ा है। इस प्रसंग में सर्वाधिक उल्लेखनीय तत्त्व यह है कि यहाँ नाटक का सारा विधान बुनियादी तौर पर नाटक की अपेक्षा कथात्मक रंगविधान के समीप आ गया है।

कथा और चरित्रविधान में यह इतिवृत्तात्मकता आदि, मध्य और अंत, बल्कि उपसंहार तक फैली हुई है, और नाटकीय गति में यह घटनात्मक और भावुकतापूर्ण कार्यों की परिसमाप्ति में।

इस तथ्य की पहचान इन नाटकों के अंकविधान और दृश्ययोजना से होती है। चाहे सांस्कृतिक ऐतिहासिक नाटक हों, चाहे सामाजिक, अंक अथवा दृश्यविधान बिल्कुल कथासाहित्य सा (काव्य) होता है। शुद्ध पाठक को ध्यान में रख कर दृश्य यहाँ लिखे गये हैं, वर्णित एवं कथित हैं—रंगमंच को ध्यान में रख कर नहीं।

'मुक्ति का रहस्य' नामक नाटक का पहला अंक और दृश्य:

'सड़क किनारे दुमंजिला बंगला। बंगले से सड़क तक थोड़ी सी ज़मीन। उसमें छोटा सा बगीचा। सड़क से बंगले तक पतली सड़क। उस पर उभड़े हुए कंकड़ और घास। बंगले की सड़क के दोनों ओर फूलों के पौधे। फूलों का क्या कहना, पौधों की पत्तियाँ भी सूख रही हैं।...यहाँ तक तो बंगले की हालत। बंगले की ओर देखने से यों तो बंगले की सजावट अच्छी है... ऐसी हालत इस बंगले की है...।

'सांझ हो रही है। डूबते हुए सूरज की किरणें बंगले के ऊपर वाले कमरों के दरवाजों और खिड़कियों के शीशों पर पड़कर चमक पैदा कर रही है। गर्मी का दिन है इसलिये शाम होने पर भी अभी गर्मी कम नहीं हुई है।'

यह दृश्यविधान निश्चय ही पाठक की कल्पना जगाने के लिये है—ठीक जैसे कथा साहित्य में होता है। देश, काल, परिस्थिति—सब कुछ वर्णित

कथित। क्योंकि ये तत्व नाटक के जीवन में धर्मनिष्ठ नहीं होने को हैं। इसके उपरांत जब इसमें चरित्र की अवतारणा होती है, तो उसी के अनुरूप चरित्र के बारे में उसकी मान्यता भी पाठक को बता दी जाती है।

'(इस व्यक्ति का नाम उमाशंकर शर्मा है। शर्माजी ने १८२१ में अच्छे नंबरों के साथ एम० ए० पास किया था। डिप्टी कलक्टरी में आपका नामनेशन भी हो गया था। लेकिन आपने असहयोग की लहर में इस्तीफा दे दिया और दो वर्ष के लिये जेल गए।)' ('मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ ३४)

('···इत्यादि बहुत सी चीजों से यह पता चलता है कि डाक्टर साहब उस पीढ़ी के उन विकृतबुद्धि और विकृतमस्तिष्क युवकों में हैं, जिन्होंने कि साहब बनने के शौक में संस्कार, चरित्रबल या ऐसी बातें जो मनुष्य को पशुत्व के ऊपर उठाए रहती हैं, छोड़ दिया है, जो प्रवृत्तियों के गुलाम हैं। सारांश यह कि डाक्टर साहब इस पीढ़ी के उन लोगों में हैं, जिनके भीतर भारतीय पतन की चरम दशा देख पड़ती है।)

('मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ ४१)

नाटक में चरित्र जब अभिनेता के माध्यम से मंच पर जीवित खड़ा करने के उद्देश्य से निर्मित होता है, तब उसमें उसकी सारी चरित्रगत विशेषताएं, वृत्तियाँ उसके भीतर छिपी रहती हैं, जो मंच पर दर्शक के सामने उसके कार्य व्यवहारों द्वारा से एक-एक कर स्वतः प्रकट होने को होती हैं और दर्शक को उस नाटकीय चरित्र का इस तरह तब पूर्ण आत्मबोध होता है। पर इस तथ्य के विपरीत यहाँ चरित्र की सारी मान्यता बतायी जाती है। इससे आगे वह क्या विचार-विनिमय करता है, कार्य करता है—पाठक उसे पढ़ सकें।

इस 'पाठ्यता' का प्रभाव भाषाप्रयोग और संवादविधान पर उल्लेखनीय ढंग से पड़ा है।

संवाद में अभिनेता का बोध न होकर केवल एक ऐसे चरित्र का बोध है जो एक विचार, प्रस्ताव अथवा जीवन पक्ष का वकील है, व्याख्याता है, अध्येता और प्रवक्ता। फलतः भाषा शैली सर्वत्र एक समान है। उसमें बुद्धि का इतना आग्रह है कि मिश्रजी के प्रायः सभी चरित्र बोलते बोलते सोचने लगते हैं और सोचते सोचते बोलने लगते हैं। तभी सारा संवादविधान 'कादम्ब' से भरा हुआ है :

'आशादेवी : क्षमा कीजिएगा······मैंने समझा शायद आपने मेरी बात नहीं सुनी और चले गए।······

उमाशंकर : कुछ कहना है···आपको ?

आशादेवी : जी नहीं · यों ही···हाँ···आप सोचेंगे कब ? किस काम से···।

उमाशंकर : ठीक नहीं कह सकता । चुनाव है । देखूँ लोगों की मनोवृत्ति क्या है ? आप भी कहीं जाना चाहतीं···।

आशादेवी : सिनेमा···लेकिन नहीं···शायद आप देर···।

('मुक्ति का रहस्य', पृष्ठ ३४-३५)

'डाट्स' से यह संवाद-अंश इनके सब तरह के नाटकों में, सब तरह के चरित्रों में, सब तरह के वेश, काल, परिस्थितियों में समान रूप से मिलता है। ऐसा भी लगता है कि 'डाट्स' अभिनय बोध की प्रतिक्रिया में हुआ है या स्वयं की प्रतिक्रिया में। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पारसी थिएटर का अभिनय शैली में संवाद में भावनात्मक उतार चढ़ाव और चमक दमक पैदा करने के लिए बातें रुक रुककर बोली जाती थीं। ये 'डाट्स' उसी रोक, विराम की याद दिलाते हैं।

सेठ गोविंददास और हरिकृष्ण प्रेमी के नाटकों में कथा और चरित्रविधान की यह इतिवृत्तात्मकता, कथात्मकता सर्वत्र समान है। और दृश्यविधान के नाम पर वही देश काल परिस्थिति का कथात्मक वर्णन, चित्रण और कथन। चूँकि यहाँ नाटक में जीवनगत वातावरण, देशकाल परिस्थितिगत चेतना उसके भीतर अंतर्निष्ठ न होकर उसके बाहर से ओढ़ा गया है, अतएव इन नाटकों में कुछ भी कहने, सजाने और दूर स्तर से उन्हें अलंकृत करने की अबाध स्वतंत्रता है। चरित्र के बारे में जो नाट्यव्यापार से संप्रेषित नहीं हो सका, उसे इन सभी वक्तव्यों से कह दिया गया :

चरित्र स्वयं उस भाव बोध को कह देता है।

चरित्रों में परस्पर इतनी प्रासंगिक अप्रासंगिक बातें होती हैं कि पाठक तक को भी कुछ सोचने समझने की जरूरत नहीं रह जाती।

नाटककार स्वयं दृश्ययोजना, पात्र के प्रवेश, प्रस्थान तथा उसके बारे में परिचय देने के बहाने सब कुछ सूचित परिभाषित कर देता है।

नाट्यविधान की स्वतंत्रता भी इन सभी बिंदुओं पर समान रूप से चलती है।

> चूँकि हर नाटक चाहे वह सामाजिक हो या ऐतिहासिक, अपनी रचना-प्रक्रिया के कारण ही वह सांस्कृतिक और पूरे काल से संबंधित हो जाता है, इसलिये उसमें कथा, चरित्र और विषय इन दृष्टियों से एक अजब तरह की अराजकता, बहूद्देश्योन्मुखता, घटनाप्रधानता भर जाती है।

> इसमें नाटकीय अन्विति की कोई परवाह नहीं रहती, इसलिये, हर नाटक में इच्छा भर किसी के बारे में कुछ भी कहा जा सकता है।

> नाटकीय कार्य और प्रभाव एकता की उपेक्षा से इसमें संवाद, अनुक्रम सभी एक में से एक निकलते रहते हैं, और कभी बिना किसी पूर्वापर ध्यान दिए सहसा पैदा कर लिए जाते हैं।

> चरित्रों को बेमतलब (कथात्मक प्रकृति के कारण) प्रवेश प्रस्थान कराने के लिये यहाँ पूरी आजादी है।

पारसी थियटर में दृश्यविधान कथा, चरित्र, तथा संघर्ष के विकास के अनुरूप इस तरह सोचा जाता था कि जब तक एक दृश्य हो रहा है, तब तक उसके पीछे का दृश्य तैयार हो रहा है, इसी के अनुसार और पीछे और पीछे··· अंक की समाप्ति तक यहाँ 'ड्राप' गिरता है, वहाँ तक कथा और चरित्र का जैसे एक के बाद एक का 'पर्दा' खुलता चलता है और एक अंक की चरमसीमा पर आकर वह 'ड्राप' में पुनः छिप जाता है, आगे और खुलने के लिये उन्हें दृश्य-योजना पर बेहद ध्यान देना पड़ता था। कहाँ दर्शक को गाना देना है, कहाँ नृत्य और कहाँ युद्ध और कहाँ झाँकी, इसे ध्यान में रखकर वे नाटक का रूपबंध तैयार करते थे। और इसी के उद्देश्य से उन्हें कभी कभी कथा और चरित्र दोनों को अनावश्यक मोड़ देना पड़ता था।

मिश्र, प्रेमी, सेठ—इन सभी ने भी ऐसा 'अनावश्यक' मोड़ दिया है पर यहाँ व्यावहारिक रंगमंच की विवशता के कारण नहीं, रंग और दर्शक के संबंध-सूत्र से उत्पन्न सौमनस्यबंधन के कारण नहीं, एक ही नाटक में 'सांस्कृतिक बोध', 'नाटक समाज का दर्पण है'—इसके नाम पर सब कुछ प्रस्तुत कर देने की लालसा के कारण समस्या का कोई पक्ष, कोई पहलू, कोई भी बात छूटी न रह जाय, इसके लिये चाहे जितने अनुक्रम, कथांश, प्रसंग ('सिंदूर की होली') जोड़ने पड़ें, वकील नाटककार को वह पूरा करना ही है, नहीं तो जूरी (दर्शक) और न्यायाधीश (आलोचक) से अपना 'केस' कैसे जीता जा सकेगा ?

'सांस्कृतिक बोध' के लिये नाटककार को पूरा अधिकार है कि वह कथा,

चरित्र, घटना तथा प्रसंग को जैसा ,जो कुछ भी मोड़ देना चाहे, दे सकता है। यही तो उसकी सांस्कृतिक स्वतन्त्रता है।

मिश्र, प्रेमी, सेठजी का रंगमंच संसार, पारसी थिएटर तथा 'प्रसाद' के नाट्य की प्रतिक्रिया तथा प्रभाव के भीतर से पैदा हुआ है। इसमें अयथार्थवादी और यथार्थवादी रंगशैलियों के परस्पर विरोधी तत्व मौजूद हैं। यह सारा नाट्य सृजन केवल दो भाव धरातलों से हुआ है :

भावना और विचार

बौद्धिकता

मिश्रजी का नाट्य, अपेक्षाकृत 'बुद्धि' से पैदा हुआ है, इसलिये इसमें एक ओर कथात्मक सुख छिपा है, दूसरे यह बुद्धि और तर्क को संतोष देने वाला है। यह संसार उतना ही बड़ा और सीमित भी है, जहाँ तक कि नाटककार, अपनी बुद्धि से अपने बाहर भीतर के संसार और वहाँ की वस्तुओं से परस्पर संबंध स्थापित करता है।

सेठजी और 'प्रेमी' का 'नाट्य' अपेक्षाकृत 'भावना' और 'विचार' की दुनियाँ में से पैदा हुआ है। सेठजी के सारे ऐतिहासिक उपन्यास 'इतिहास' और 'विचार' की पुस्तकों में से उपजे हैं :

इस नाटक को लिखने में मुझे निम्नलिखित ग्रन्थों में सहायता मिली है—(१) केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, प्रथम भाग, (२) दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इंडियन पीपुल एंड दि एज आफ इंपीरियल यूनिटी, दूसरा भाग, (३) डाक्टर भंडारकर कृत अशोक, (४) डाक्टर राधाकुमुद कृत—मैन एंड थाट इन एनशेंट इंडिया'।' आदि आदि। दरअसल ये एक तरह से इतिहास ग्रंथ है, जो नाटक के रूप में लिखे गए हैं—

'प्रस्तुत नाटक की रचना अशोक की जीवनी पर की गई है। इसका न तो कोई पात्र काल्पनिक है और न कोई घटना।'

प्रेमी का नाट्य सेठजी की अपेक्षा नाटक की प्रकृति के करीब है। इनमें नाट्य पर उल्लेखनीय आग्रह है साथ ही अपने कथ्य की प्रामाणिकता पर।

१. अशोक —सेठजी, भूमिका से।

पारसी थिएटर और नाटक के समानांतर इस पूरे काल की साहित्यिक नाट्य-धारा (?) की सीमाएँ रंगमंच के सीमित क्षेत्र की सीमाएँ हैं। प्रत्यक्ष जीवन से कटकर जैसे मनुष्य भावना, संकल्पना और बुद्धि की दुनिया में जाकर रहने को अभिशप्त होता है, ठीक इसी प्रकार रंगमंच से कटकर नाटक को 'नाटक' में भटकने को विवश होता है।

किन्तु दूसरी ओर यह भी उल्लेखनीय है कि इन नाटककारों ने जिस आस्था और तीव्रता से जीवन का :

यथार्थ पक्ष (मिश्रजी)

राष्ट्रीय पक्ष (प्रेमी)

सांस्कृतिक पक्ष (सेठजी)

अपने नाट्य साहित्य में उभारा है वह नाट्यसृजन की व्यापक भूमि है। इस तरह भूमि की तलाश और उसका नाट्य उपयोग अपने सामर्थ्य के अनुसार प्रसाद, मिश्र, प्रेमी और सेठजी ने किया। मिश्रजी में सारी समस्याओं के प्रति ऐसी स्पष्टता और तीखापन है कि जो दरअसल सोचने को मजबूर करता है।

चेतना के स्तर पर स्वभावतः यह पूरा काल राष्ट्रीय चेतना का काल है। इस चेतना के विविध पक्षों को नाटक का विषय बनाना, इस काल की प्रमुख विशेषता है। मिश्रजी ने इसी के परिदृश्य में सामाजिक समस्याओं को तीखे बुद्धिवादी ढंग से देखा है और राष्ट्रीय बोध को मानवीय एवं सामाजिक अर्थ दिया है।

इस काल में कुछेक और नाटकों के नाम उल्लेखनीय हैं :

आनंदप्रसाद खत्री का 'गौतमबुद्ध' (१९२३)

माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९१८)।

जमनादास मेहरा का 'मोरध्वज' (१९१९)

विश्वम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक' का 'भीष्म' (१९१८)

मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ' (१९२५)

सुदर्शन का 'अंजना' (१९२२)

गोविंदवल्लभ पंत का 'वरमाला' (१९२५), 'राजमुकुट' (१९३५)

बेचन शर्मा 'उग्र' का 'महात्मा ईसा' (१९११)

प्रेमचंद का 'कर्बला' (१९२४)

जगन्नाथ प्रसाद मिलिंद का 'प्रताप प्रतिज्ञा' (१९२८)
उदयशंकर भट्ट का 'चंद्रगुप्त मौर्य' (१९३१)
'विक्रमादित्य' (१९३३)
'सगर विजय' (१९३७)
'मत्स्यगंधा' (१९३७)
चंद्रगुप्त विद्यालंकार का 'अशोक' (१९३५)
कैलाशनाथ भटनागर का 'कुणाल' (१९३७)
'अश्क' का 'जय पराजय' (१९३७)
परिपूर्णानंद वर्मा का 'रानी भवानी' (१९३८)

ये सारे नाटक स्वदेशप्रेम, राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय एकता के ही विषयवस्तु के आधार पर लिखे गये हैं। इससे भी बड़ी तालिका सामाजिक नाटकों की भी है, जहाँ इस काल के अनेक लेखकों ने (नाटककारों ने) सामाजिक समस्याओं पर सीधी चोट की है और उसमें समाजसुधार वाली प्रवृत्ति को स्पष्ट स्वर दिया है।

अब प्रश्न है, इस काल में इतना सारा नाट्यलेखन क्यों कर हुआ ? बहुविज्ञापित तर्क तो सामने है कि यह राष्ट्रीय चेतना और आंदोलन का अत्यंत जीवित काल है और नाटक इस 'चेतना' और 'आंदोलन' को संप्रेषित करने का अत्यन्त प्रभावपूर्ण माध्यम।

पर जितना अधिक नाट्यलेखन और जोकिया ढंग से नाट्यप्रदर्शन इस पूरे काल में हुए हैं, उसके अनुमान से इतना तर्क काफी नहीं लगता। क्योंकि समस्याओं तथा विशेषकर 'नारी', 'पुरुष' के व्यक्तित्व तथा संबंधों के प्रति इस काल का दृष्टिकोण सर्वथा बदला हुआ है।

दरअसल यह पूरा काल, राष्ट्रीय आंदोलन का वह काल है, जिसका नेतृत्व गांधीजी कर रहे थे। उन्हीं ने स्वराज्य आंदोलन को सर्वथा एक मानववादी रूप दिया। इसी के भीतर से दो नई वृत्तियाँ राष्ट्रीय चेतना में फूटी थीं—पहली व्यापक सुधारवाद की, दूसरी सामाजिक, नैतिक

क्रांति की। यह पूरा काल उद्बोधन का काल है। समाज के हर स्तर का आदमी इसी 'सुधार' और क्रांति चेतना से अभिभूत था।

यही सामाजिक क्रांति-चेतना नैतिक और सुधारवादी इन दोनों स्तरों पर मिश्रजी से लेकर इस पूरे काल के सामाजिक नाटकों में है। वही क्रांति, सुधार, उद्बोधन, जोश, भावुकता राष्ट्रीय आंदोलन स्तर पर समस्त ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों में है।

ये नाटक बहुत व्यापक स्तर पर पढ़े जाते थे। स्कूल, कालेजों, विश्वविद्यालयों में पढ़ाये जाते थे (और अब तक पढ़ाये जा रहे हैं)। उनमें इतना 'पाठ्यतत्व' होना तभी अनिवार्य हुआ। चरित्र निर्माण के पीछे वे सारे राष्ट्रीय आंदोलन के तत्व कार्यरत थे, तभी पात्र इतने कथात्मक और वाचाल हैं। उनमें संघर्ष व्यापक स्तर पर है तभी उनमें तीव्रता कम है और संघर्ष सरलीकृत रूप में सामने आया है। ज्यादातर संघर्ष परस्पर बातों में है, और चरित्रों के अपने अपने निजी पक्ष बेहद मजबूत और पूर्व निश्चित हैं। यह सारा तथ्य उस काल के मानवसमाज और व्यक्ति का सत्य है। जो व्यापक मानव नाटक उस समय पूरे भारतवर्ष के भीतर के भीतर गांधी और नेहरू ने अनुभूत किया और पाया कि भारतवर्ष परिवर्तन, क्रांति चाहता है, और इस बोध ने उन्हें देश का गांधी जवाहर बनाया, ठीक उसी स्तर से इन तमाम नाटककारों ने अपने अपने ढंग से उसी 'परिवर्तन', उसी 'क्रांति' को इतनी व्यापक नाट्य अभिव्यक्ति दी— बल्कि उन्हें जैसे विवश होकर देनी पड़ी। क्योंकि इस पूरे काल का समाज, मनुष्य अपनी अपनी क्षमता, सृजन और साधन से राष्ट्रीय आंदोलन की गंगा में पत्र पुष्प, तन, मन, धन डालकर स्वयं के अस्तित्व को गौरव दे रहा था। 'अशोक', 'हर्ष', 'स्कन्दगुप्त', 'चंद्रगुप्त' 'देवसेना', 'कर्तवीर', 'मालती', 'मायावती', 'प्रकाशचंद्र', 'अपराजी', 'मुक्तेश्वर', 'भारत', 'दिशा', 'बुद्ध', 'शिवाजी', 'प्रताप', एक ओर गौरवपूर्ण इतिहास और क्रांतिकारी समाज के पात्र हैं, दूसरी ओर ये इस काल के ऊहापोह के मानवीय प्रतीक, तीसरे इनके माध्यम से नाटककार अपने आप की अभिव्यक्ति दे रहा था। और उस काल में अपने आपको इतनी भावनात्मकता, नैतिकता से जोड़े हुए था।

दूसरी ओर इस पूरे काल में समानान्तर रूप से पारसी थिएटर अपने व्यावसायिक रंगमंच के साथ जी रहा था। यह रंगमंच भी अपने अनोखे ढंग से इसी

राष्ट्रीय चेतना के भीतर से पैदा हुए सारी भावनाओं को अपने 'नाट्य' में पूरे साजसज्जा, गाना, नाच तथा पूरे रंग चमत्कार के साथ इस्तेमाल कर रहा था। 'आगा हश्र', 'राधेश्याम', 'बेताब' के नाटक पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र के दर्शक के लिये आकर्षण केन्द्र थे। इनमें 'आगा हश्र' के साथ हिन्दी के लेखकों की स्वाभाविक प्रतिस्पर्धा थी। हिन्दी उर्दू के सवाल को भी लेकर परस्पर तनाव रहता था। शायद इसी प्रतिस्पर्धा और प्रतिक्रिया स्वरूप आगे चलकर 'प्रेमी' ने अपने ऐतिहासिक नाटकों के मुसलमान चरित्रों से भी उर्दू बोलवाना छुड़ा दिया। यह दुर्भाग्य की ही बात कही जायगी कि पारसी थियेटर मूलतः हिन्दीभाषी क्षेत्र में पनपा, वह हिन्दी जनता के लिये तैयार किया गया, फिर भी हिन्दी ने 'अतिशुद्धि' और 'आर्यभावना' के कारण उसे हिन्दी का, अपना नहीं स्वीकार किया और रंगमंच दर्शक, रंगमंच नाटक, विषयवस्तु और नाटक, पाठक और दर्शक, व्यवसाय और साहित्य के बीच करीब पचास वर्षों का भयानक अंतराल, शून्य पैदा कर दिया।

इस पूरे काल में हिन्दी नाट्यलेखन के समान ही पारसी थियेटर की प्रतिक्रिया, प्रभाव और राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप अनेक शौकिया, अव्यावसायिक नाट्यदल तैयार हुए, बने, मिटे और साधनहीनता के बावजूद लगातार उत्साही लोग नाट्यप्रदर्शन करते रहे। हिन्दीभाषी क्षेत्र में इतना रंगउत्साह शायद कभी नहीं आया, पर चूंकि साहित्यिक नाटककार, समाज के नेतागण इस व्यापक उत्साह उमंग को न पहचान सके, न इससे जुड़कर इसका अंग बन सके, इसलिये यह पचास वर्षों का शौकिया रंगउत्साह हमारी जिन्दगी का वह अंग नहीं बन पाया, जो इसी तरह से बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में उनकी संस्कृति का सहज, अभिन्न अंग बन गया। यह सारा नाट्य और रंगमंच साधनहीन संरक्षणविहीन और अंततः निरुद्देश्य हो भटककर मर ही नहीं गया, बल्कि अपनी दुर्भाग्यपूर्ण मृत्यु का अमङ्गल, अपशकुन छोड़ गया। वह आगे एक सांस्कृतिक शून्य के रूप में हिन्दीभाषी क्षेत्र में प्रेत की तरह छा गया और जो किसी हद तक अब तक विद्यमान है और हमारे आज इतने नाट्य उत्साह और रंगकर्मों को समुचित रूप में पनपने से रोके हुए है।

मैं व्यक्तिगत रूप से इस व्यापक संरक्षणहीन शौकिया हिन्दी रंगमंचीय कार्य-कलाप को, उस काल की बहुत बड़ी उपलब्धि मानती हूं, जिसकी अब मात्र चर्चा करते हुए पितृविसर्जन जैसा भावबोध मेरे भीतर उमगता है और मन भर आता है।

इस काल की प्रकृति की गहराई में जाकर यदि देखा जाय तो राष्ट्रीय चेतना के भीतर-ही-भीतर मध्यवर्ग समाज का बड़ी तेजी से विकास हो रहा था। इस काल में राजनीतिक और आर्थिक इन दो स्तरों से अंग्रेजी शासन की ओर से जो दमन और शोषण का कालचक्र चल रहा था, उससे विकसित होते हुए मध्य वर्ग तथा विशेषकर बुद्धिजीवी का सारा ध्यान एक ओर राजनीतिक उथल-पुथल की ओर चला गया, दूसरी ओर वह जीवन के प्रति एक ऊहापोहमय चित्र खींचने लगा—कभी सुधारमय, कभी विद्रोहमय और कभी वैयक्तिक स्वातंत्र्यमय।

उस समय तक हिन्दी क्षेत्र में इतने महानगर नहीं बन पाये थे। न ऐसा कोई व्यापारिक औद्योगिक केन्द्र ही था तब, जिसके सहारे बुद्धिजीवी मध्यवर्ग वहाँ एकत्र होता और नाटक रंगमंच जैसे सामूहिक प्रयास के लिये तत्पर होता। उस समय प्रयाग में माधव शुक्ल ने शौकिया हिन्दी रंगमंच की स्थापना की, लेकिन उन्हें जीविकोपार्जन के लिये कलकत्ते जाना पड़ा। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं, जहाँ प्रयाग, काशी, कानपुर, मेरठ, पटना, झाँसी, नागपुर, दिल्ली आदि केन्द्रों में हिन्दी नाटक संबंधी क्रियाकलाप बड़ी तेजी से शुरू होकर सहसा एक बिन्दु पर आकर बिखर गया। उत्साही लोगों को या तो नौकरी लिये इधर-उधर भागना नहीं पड़ा, तो उन्हें किसी राजनैतिक आंदोलन ने घर दबाया। इस तरह इस काल में असंख्य शौकिया नाट्यदल बने, उनके रंगमंच कार्यकलाप हुए, पर इन्हीं कारणों से, तथा हिन्दी क्षेत्र की एक विशेष सांस्कृतिक बनावट से, रंगमंच की जड़ों को उस तरह फैलने और अपनी जमीन पकड़ने का अवसर नहीं मिला, जैसे बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में संभव हुआ।

हिन्दी क्षेत्र का दर्शक समाज, घुमंतू पारसी थियेटर (विशेषकर अल्फ्रेड और कोरंथियन की नकल में बनी तमाम मण्डलियों) का प्रदर्शन देख रहा था। सीता की भूमिका अब रंडियाँ निभा रही थीं। राम अब रसिया के रूप में मंच पर आने लगे।[1] दर्शक समाज को इससे कोई एतराज नहीं था। फिर जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना और आजादी की लड़ाई तीव्र होने लगी, वैसे नाट्य प्रदर्शनों के प्रति साहित्यिकों—बुद्धिजीवियों में उत्साह जगा। विशेषकर 'रामलीला' के अवसरों पर जगह-जगह नाट्यप्रदर्शन शुरू हुए और यह रंग-उत्साह बड़ी तेजी से बढ़ा।

---

१. देखिये, शिवपूजन सहाय का लेख, 'माधुरी' लखनऊ, वर्ष ६ तुलसी संवत् ३०४ (१९८४ वि०)।

इस काल की प्रकृति की गहराई में जाकर यदि देखा जाय तो राष्ट्रीय चेतना के भीतर-ही-भीतर मध्यवर्ग समाज का बड़ी तेजी से विकास हो रहा था। इस काल में राजनीतिक और आर्थिक इन दो स्तरों से अंग्रेजी शासन की ओर से जो दमन और शोषण का कालचक्र चल रहा था, उससे विकसित होते हुए मध्यवर्ग तथा विशेषकर बुद्धिजीवी का सारा ध्यान एक ओर राजनीतिक उथल-पुथल की ओर चला गया, दूसरी ओर वह जीवन के प्रति एक ऊहापोहमय चित्र खींचने लगा—कभी सुधारमय, कभी विद्रोहमय और कभी वैयक्तिक स्वातंत्र्यमय।

उस समय तक हिन्दी क्षेत्र में इतने महानगर नहीं बन पाये थे। न ऐसा कोई व्यापारिक औद्योगिक केन्द्र ही था तब, जिसके सहारे बुद्धिजीवी मध्यवर्ग वहाँ एकत्र होता और नाटक रंगमंच जैसे सामूहिक प्रयास के लिये तत्पर होता। उस समय प्रयाग में माधव शुक्ल ने शौकिया हिन्दी रंगमंच की स्थापना की, लेकिन उन्हें जीविकोपार्जन के लिये कलकत्ते जाना पड़ा। इस तरह के अनेक उदाहरण हैं, जहाँ प्रयाग, काशी, कानपुर, मेरठ, पटना, झाँसी, नागपुर, दिल्ली आदि केन्द्रों में हिन्दी नाटक संबंधी क्रियाकलाप बड़ी तेजी से शुरू होकर सहसा एक बिन्दु पर आकर बिखर गया। उत्साही लोगों को या तो नौकरी लिये इधर-उधर भागना नहीं पड़ा, तो उन्हें किसी राजनैतिक आंदोलन ने घर दबाया। इस तरह इस काल में असंख्य शौकिया नाट्यदल बने, उनके रंगमंच कार्यकलाप हुए, पर उन्हीं कारणों से, तथा हिन्दी क्षेत्र की एक विशेष सांस्कृतिक बनावट ने, रंगमंच की जड़ों को उस तरह फैलने और अपनी जमीन पकड़ने का अवसर नहीं दिया, जैसे बंगाल, महाराष्ट्र और गुजरात में संभव हुआ।

हिन्दी क्षेत्र का दर्शक समाज, कुमंतु पारसी थियेटर (विशेषकर अल्फ्रेड और कोरंथियन की नकल में बनी तमाम मण्डलियाँ) का प्रदर्शन देख रहा था। सीता की भूमिका अब रंडियाँ निभा रही थीं। राम अब रसिया के रूप में मंच पर आने लगे।[1] दर्शक समाज को इससे कोई एतराज नहीं था। फिर जैसे-जैसे राष्ट्रीय चेतना और आजादी की लड़ाई तीव्र होने लगी, वैसे नाट्य प्रदर्शनों के प्रति साहित्यिकों—बुद्धिजीवियों में उत्साह जगा। विशेषकर 'रामलीला' के अवसरों पर जगह-जगह नाट्यप्रदर्शन शुरू हुए और यह रंग-उत्साह बड़ी तेजी से बढ़ा।

---

१ देखिये, शिवपूजन सहाय का लेख, 'माधुरी' लखनऊ, वर्ष ६ तुलसी संवत् ३०४ (१९८४ वि०)।

इस प्रसंग में प्रयाग की 'श्रीरामलीला नाटक मण्डली' का नाम सबसे पहले लिया जाना चाहिए। इस मण्डली के संस्थापक थे पं० बालकृष्ण भट्ट के सुपुत्र पं० लक्ष्मीकांत भट्ट, मालवीयजी के सुपुत्र पं० रमाकांत मालवीय, बेनी प्रसाद, गुप्त, देवेन्द्रनाथ बनर्जी आदि। इस नाटक मण्डली ने रामचरित मानस के आधार पर, माधव शुक्ल द्वारा लिखित 'सीता स्वयंवर' और भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' जैसे नाटकों को कितनी बार खेला। आगे राधाकृष्णदास का 'महाराणा प्रताप' नाटक खेला गया।

इस मण्डली के अतिरिक्त प्रयाग, काशी, कानपुर, लखनऊ में हिन्दी नाट्य मण्डलियाँ बनीं। अच्छे-अच्छे घरों के युवक इसके अंग बनने लगे। लड़के ही स्त्रियों की भूमिकाएँ करते रहे। दर्शकों को आकर्षित करने के लिये नाट्य-प्रदर्शन से पहले 'कवि सम्मेलन' और 'मुशायरे' रखे जाते। 'प्रहसन' खेले जाते। हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने अपने अधिवेशनों के उपलक्ष्य में विभिन्न नगरों में हिन्दी के नाटक खेलवाने शुरू किए। 'नागरी-प्रचारिणी सभा' की ओर से भी नाटक होने शुरू हुए। श्यामसुन्दर दास, शिवपूजन सहाय, पं० माधव शुक्ल जैसे अनेक साहित्यिक व्यक्तियों ने हिन्दी रंगमंच को सहयोग दिया। विश्वविद्यालयों, कालेजों, स्कूलों से भी अध्यापक वर्ग अभिनय में भाग लेने लगे। इस रंगजागरण का व्यापक प्रभाव पड़ा। राष्ट्रीय चेतना से ओतप्रोत तथा हिन्दी प्रेमियों की सहायता सहयोग से जगह जगह कुछ उल्लेखनीय नाट्यसंस्थाएँ बनीं :

कलकत्ता की 'नागरी नाटक मण्डली'
कलकत्ता का 'भारतेन्दु नाट्य समाज'
'काशी नाट्य मण्डली', 'नटराज', 'नागरी प्रवर्धिनी सभा', 'नागरी नाटक मण्डली'
काशी की 'भारतेन्दु नाट्य मण्डली'
प्रयाग का 'हिन्दी नाट्य समाज', 'हिन्दी नाट्य समिति'
प्रयाग की 'रामलीला नाटक मण्डली'
प्रयाग में प्रो० गंगाप्रसाद द्वारा संचालित कायस्थ पाठशाला की 'नाटक मित्र मण्डली'
जबलपुर की 'नाट्य समिति'
आरा की 'मनोरंजन नाटक मण्डली'

मुजफ्फरपुर की 'नवयुवक समिति'
छपरा की 'शारदा नवयुवक समिति'
लखनऊ में 'अवधनाट्य मण्डली'
फैजाबाद में 'रामलीला नाटक समाज,' 'कला मंडल'
कानपुर में 'उत्साही समाज,' जागो भारत'
बस्ती में 'पक्का बाजार नाटक मंडली'
मेरठ में 'व्याकुल भारत' के उपरांत 'नया भारत समाज'
आगरा में 'हिन्दी नाटक समाज'
मथुरा में 'हिन्दी नाट्यपरिषद'

इस तरह का व्यापक शौकिया नाट्यसमाज पूरे हिन्दीभाषी क्षेत्र में छा गया। इन नाट्यसंस्थाओं के प्रदर्शन यदाकदा ही हुआ करते थे। विशेषकर, धार्मिक पर्वों और सामाजिक उत्सवों के अवसर पर नाट्यप्रदर्शन अनिवार्य रूप से होते थे। इनमें ऐसे ही नाटक खेले जाते थे, जिनके विषय राष्ट्रीय चेतना अथवा समाजसुधार हों। रंगमंच शैली, और प्रदर्शन का ढाँचा पारसी थियेटर से ही ग्रहण किया जाता था। इन नाट्यमंडलियों में 'बेताब' 'राधेश्याम' और हश्र के भी अनेक नाटक खेले गए—पर काट छाँट करके। डी० एल० राय के सारे रोमांटिक ऐतिहासिक नाटक खेले गए।

काशी में, बाद की 'नागरी नाट्यकला संगीत प्रवर्तक मंडली', 'भारतधर्म महामंडल', और 'भारतेन्दु नाट्यमंडल' में जो नाट्यप्रदर्शन हुए, उनमें सीन सीनरी बनवाने का काम गौरव प्रेस के प्रसिद्ध चित्रकार टी० के० और बी० के० मित्रा से लिया जाने लगा और पारसी रंगशैलियों को भी बड़ी उदारता से ग्रहण किया गया।

इन शौकिया हिन्दी नाट्यसंस्थाओं की रंगमंच कला, प्रदर्शन स्तर तथा अभिनय शैली का अंदाज लगाने के लिये उस काल के अभिनेता, निर्देशक और उत्साही रंगकर्मी ललितकुमार सिंह 'नटवर' के इस विचार को पढ़ा जा सकता है :

'हमारी अधिकांश नाटक समितियाँ पेशेवर पारसी स्टेजों की भद्दी नकल हैं, भद्दी इसलिये कि पारसीपन की वह चुस्ती, वह मस्ती, वह 'प्रोपरेशन' नाममात्र को यहाँ नहीं होते, केवल हाथ पैर, और आँख मुँह के बेतरह संचालन, वेशभूषा तथा उच्चारण की थोड़ी बहुत नकल अवश्य की जाती

है। उसमें भी विराम, नियमानुसार 'रुक रुक' कर बोलने का प्रयोग अधिकतर बेमौके और बेढंगे तौर पर किया जाता है।''' हमारे नकलची नट, निरंतर अभ्यास न होने के कारण इसकी (पारसी थियेटर की) और भी भद्दी नकल बना डालते हैं। थियेट्रिकल नृत्यों की तो और भी मट्टीपलीद की जाती है''' वेशभूषा की भी भद्दी नकल की जाती है ''हमारे अंग्रेजी या हिन्दी भाषा भाषी इसी का (बंगला, अंग्रेजी वाचिक अभिनय) अनुकरण अधिक करते हैं। साधारण वार्तालाप में भी व्याख्यानुमा ढंग से बातचीत करते हैं। हालांकि इसमें भी बड़ा आवेश और प्रवाह है, किन्तु अस्वाभाविकता में पार्सीपन से किसी तरह कम नहीं है। कुछ इस तरह के पात्र हैं, जो स्कूली सबक सुनाने की तरह पार्ट करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ 'नाटक समितियों' में रामलीला, रासलीला और नौटंकी के से ढंग खेले जाते हैं।''[1]

पारसी थियेटर और हिन्दी के शौकिया रंगमंच प्रवर्तनों की और उनके नाटकों की परस्पर तुलना से इस काल की उपलब्धि और सीमाएं स्पष्ट हो जाती हैं। पारसी नाटक और रंगमंच की प्रतिक्रिया में जो हिन्दी नाटक लिखे गए, उनमें विषयवस्तु के भेद के अतिरिक्त भाषाभेद बहुत ही स्पष्ट हुआ। एक की भाषा, लच्छेदार, चमत्कारपूर्ण शैली, आवेश और मस्तीवाली उर्दूप्रधान होती थी तो हिन्दी नाटक की भाषा साहित्यिकता के आग्रह से भारी भरकम, संस्कृतनिष्ठ हुई। एक की भाषा में अभिनेता मौजूद था, दूसरे की भाषा में उत्तरोत्तर पाठक आता गया। साहित्यिक नाटकों के रूपबंध, रंगविधान पारसी थियेटर से ही लिये गये। मिश्रजी ने अपने सामाजिक नाटकों में यथार्थवादी रंगमंच और रूपबंध लाने का उल्लेखनीय प्रयत्न किया। पर यह दूसरी प्रतिक्रियात्मक रंगमंच से सर्वथा कटे रहने के कारण अपनी रंगशैली की न तो सीमा ही देख सके न सामर्थ्य ही।

दोनों प्रकार के नाट्यप्रदर्शन काफी लंबे हुआ करते थे। दोनों में गीत की परम्परा थी। पारसी थियेटर में जैसे नाच पर खूब बल था, वहाँ 'प्रसाद' के बाद उसी तरह नाच गाने से यथासंभव बचने की प्रवृत्ति रही।

रंगमंचविधान, और प्रदर्शनशैली के प्रसंग में यह स्पष्ट कहा जा

1. हमारा रंगमंच और अभिनय कला, 'माधुरी', वैशाख तुलसी संवत् ३०६। ४

सकता है कि यह पूरा काल जहाँ एक ओर पारसी थिएटर का स्वर्णकाल था, वहाँ इसी की छाया में हिन्दी नाटक और उसका शौकिया रंगमंच विकसित हुआ। इस विभाजन को छोड़कर अपनी नाट्यपरम्परा से कोई नयी रंगतलाश, भारतेन्दु के बाद से इस काल तक नहीं हुई। रंगमंच क्षेत्र में न अपना कोई महत्त्वपूर्ण अभिनेता हुआ न निर्देशक—यहाँ तक कि कोई एक भी ऐसा रंगसमीक्षक तक नहीं प्रकट हुआ, जो इस काल के समूचे रंगमंच को किसी भी दृष्टिकोण से देखता। यहाँ तक भी न हुआ कि पारसी थिएटर और हिन्दी शौकिया रंगमंच के कार्यकलापों का कुछ लेखा जोखा करता, या मात्र तथ्यसंग्रह ही कर जाता।

रंगमंच पक्ष से इतना उदास, कटा हुआ जैसे पराजित इस हिन्दी नाट्य-कला ने अपनी रंगप्रतिक्रिया केवल 'नाट्यलेखन' तक ही सीमित रखी, और उसमें उसने पूरे राष्ट्रीय चरित्र को, काल की पूरी सामाजिक चेतना को, ऊहापोह उमंग, आशा निराशा, तथा विद्रोहबोध को भावुक अभिव्यक्ति दे देनी चाही।

स्वतंत्रता के बाद का हिन्दी रंगमंच

स्वतंत्रता से पूर्व, लगभग उन्नीस सौ छत्तीस अड़तीस के आसपास जहाँ एक ओर पारसी हिन्दी रंगमंच अपनी चरम परिणति पर पहुँचकर सनीमा के आगमन अथवा सनीमा के अंक में समा जाता है, दूसरी ओर जहाँ हिन्दी का शौकिया रंगमंच भी केवल एकांकी नाट्य प्रदर्शन—वह भी केवल कालेज विश्वविद्यालयों के रंगमंच तक सीमित हो जाता है, और तीसरी ओर जहाँ इस काल के प्रायः सभी नाटककार अपनी प्रतिभा को केवल 'नाट्यलेखन' तक ही सीमित कर लेते हैं—वहाँ स्वभावतः रंगमंच स्तर से, उसके काल और क्षेत्र में एक शून्यता और रिक्तता पैदा होती है।

व्यावहारिक हिन्दी रंगमंच में यह शून्यता तब से आजादी तक बनी रही। काफी लम्बा काल है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से उस शून्यता को तोड़ने और इसे रंगरंजित करने की दिशा में—प्रत्यक्ष न सही, तो परोक्ष ही ढंग से दो रंगमंच दलों ने, रंगमंच व्यक्तियों ने, उल्लेखनीय कार्य किया है:

पृथ्वी थियेटर

इप्टा—इंडियन पीपुल्स थियेटर

ये दोनों नाट्य दल अपने लक्ष्यों के साथ अवतरित हुए। 'इप्टा' का चरित्र मूलतः राजनीतिक था—विशेषतः साम्यवादी पार्टी का यह रंगमंचीय माध्यम या स्वरूप था। इस सीमा अथवा राजनीतिक मर्यादा के बावजूद इसने भारतीय रंगमंच की बहुत बड़ी सेवा की। इसने अपने रंगमंच से जोड़कर, प्रस्तुत कर यह दिखाया कि भारत का अपना, अपना रंगमंच कितना, कैसे अपने लोक रंगमंच से कितने रंगतत्व ले सकता है। दूसरे रंगमंच जब सही अर्थों में मानव यथार्थ से जुड़ता है, तब उसका नया अपूर्व व्यक्तित्व होता है। तीसरे कुछ कहने के लिये, भाषणमय संवाद, बौद्धिक, तार्किक कथोपकथन, बड़ी-बड़ी घटनाओं, मंच दृश्यों की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि मानव दुख-सुख के गायन, नर्तन, हँसी मजाक, व्यंग प्रहसन, नकल

के धरातल से जीकर, प्रस्तुत कर 'सफल' कही जा सकती है। और अपार दर्शक वर्ग तक पहुँचायी जा सकती है।

इस रंगमंच का मूल क्षेत्र था, बंगाल और महाराष्ट्र—केन्द्र थे, कलकत्ता और बम्बई। मुख्यतः बंगला, मराठी भाषा में ही इसने अपनी अभिव्यक्ति की, पर हिन्दी भाषा को भी इसने अपनाया। और इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, पटना, दिल्ली इस नाट्यपथ के अक्सर पड़ाव बन जाते थे। और इस रंगमंच की स्वाभाविकता, सहजता, शक्ति और प्रभाव से हिन्दी क्षेत्र अवश्य ही परिचित हुआ।

इसके ठीक विपरीत 'पृथ्वी थियेटर' शुद्ध व्यावसायिक रंगमंच था। पारसी थियेटर से अलग हटकर, हिन्दी सनीमा की होड़ में इसने रंगकला, समाज आदर्श, श्रेष्ठ अभिनय, इन सबको अतिनाटकीय नाटकों से मिलाकर एक नया अध्याय शुरू किया। 'पठान', 'दीवार', 'आहुति', 'कलाकार' आदि नाटकों से पृथ्वी थियेटर ने उस शून्य को, व्यवधान को, अपने ढंग से भरना चाहा—और अपार दर्शकों को शुद्ध रंगस्तर से अभिभूत किया।

पर यह बुनियादी प्रश्न सतत बना रहा कि हिन्दी का अपना निजी रंगमंच क्या है, क्या हो? यह वही प्रश्न था जिससे अपने-अपने स्तर से कभी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने साक्षात्कार किया था, कभी प्रसाद ने, और शुद्ध मौलिक स्तर से कभी मिश्र जी ने और एकांकी स्तर से रामकुमार, भुवनेश्वर और 'अश्क' ने।

स्वतंत्रता के बाद पूरे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी क्षेत्र की स्थिति में, मनोदशा में एक अपूर्व परिवर्तन आया।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरान्त यहाँ जो नयी सांस्कृतिक चेतना जगी, उसमें रंगमंच-विषयक नवोन्मेष का स्थान परम उल्लेखनीय है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकार की ओर से प्रायः नाट्य-महोत्सव होने लगे। मुख्यतः हिन्दी-क्षेत्र में और उसके प्रतिनिधि नगरों—जैसे दिल्ली, लखनऊ, कानपुर, पटना, जबलपुर, इलाहाबाद आदि में बीसियों नाट्य-संस्थाएँ बनीं। सांस्कृतिक समारोहों तथा उद्घाटन के अवसरों से लेकर मंत्रियों तथा अफ़सरों के स्वागत-उपलक्ष्य में और गाँव में विकास-केन्द्र के जलसों तक नाट्य-प्रदर्शन की व्यापकता हमें देखने को मिलने लगी।

लेकिन ध्यान देने की
क्या है? यह चेतना पूर्ण
अद्भुत है, अथवा उस पर
इसका स्रोत कहीं और है?
यह देखना चाहिए
और उसके फलस्वरूप इसका

स्वतंत्रता-प्राप्ति के
अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा अधिक
है कि हमारा देश राजनीति
के सम्पर्क में आया—और
आर्थिक, औद्योगिक तथा
स्वभावतः हमारा देश बहुत
अपनी सांस्कृतिक उपलब्धि
हमारा देश वास्तव में
इसके फलस्वरूप इंग्लैंड,
सांस्कृतिक आदान-प्रदान
कभी नृत्य के, कभी संगीत,
हमने बड़े गर्व से विदेशों
और संगीत-कला के मेले और
उपलब्धियों ने उन समुन्नत
पर इस सारे प्रसंग में
विशेषकर राजधानी दिल्ली
जीवित रंगमंच था और न
अतुल सांस्कृतिक उपलब्धि,
सर्वथा अभाव (जो) सारी संस्कृ
यह विरोधाभास इस व्याप
है अपार। और इसके भी आगे
वह चुनौती को, भारत
कर सके। क्योंकि हिन्दी ही
संदर्भ में भारतीय रंगमंच क्या

लेकिन ध्यान देने की बात है, कि इस नवोन्मेष की प्रकृति और स्थिति क्या है? यह चेतना पूर्णतः हमारे वास्तविक समाज अथवा जनजीवन से उद्भूत है, अथवा उस पर आरोपित है? यह प्रेरणा अपने-आपमें है अथवा इसका स्रोत कहीं और है? इसकी स्थिति क्या है?

यह देखना चाहिए कि इस नवोन्मेष प्रेरणा-शक्ति क्या रही है? और इसके फलस्वरूप इसका रूप क्या बना है?

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, हमारे देश का अंतर्राष्ट्रीय संबंध संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत तेजी से आगे बढ़ा। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट है कि हमारा देश राजनीति के स्तर से अधिक सांस्कृतिक स्तर से शेष संसार के सम्पर्क में आया—और विशेषकर ऐसे समुन्नत राष्ट्रों के सम्पर्क में, जो आर्थिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में हमसे बहुत-बहुत आगे थे। स्वभावतः हमारा देश बहुत ही उदार भावना, और पूर्ण विश्वास से, मुख्यतः अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के साथ उन समुन्नत राष्ट्रों के सामने आया। हमारा देश वास्तव में इसी स्तर से उनके मुकाबले में आ भी सकता था। इसके फलस्वरूप इंग्लैंड, अमरीका, रूस, फ्रांस तथा एशियाई देशों से हमारे सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुए। बड़े-बड़े सांस्कृतिक शिष्टमंडल—कभी नृत्य के, कभी संगीत, चित्रकला तथा फ़िल्म आदि के, आने-जाने लगे। हमने बड़े गर्व से विदेशी शिष्टमंडलों को अपनी मूर्ति-कला, स्थापत्य कला, नृत्य और संगीत-कला के मेले और प्रदर्शनी दिखलाई और इस देश की सांस्कृतिक उपलब्धियों ने उन समुन्नत राष्ट्रों को प्रभावित भी खूब किया।

पर इस सारे प्रसंग में हमें एक बहुत बड़े अभाव का सत्य खटका—विशेषकर राजधानी दिल्ली और हिन्दी-क्षेत्र के नगरों को। यहाँ न कोई जीवित रंगमंच था और न उसकी कोई व्यावहारिक नाट्यकला थी। हमारी अतुल सांस्कृतिक उपलब्धि, विशिष्टता और उसमें रंगमंच-जैसे सत्य का सर्वथा अभाव (जो सारी संस्कृति का दृश्य रूप है रस रूप है और कसौटी है)। यह विरोधाभास उस व्यापक और जीवन्त क्षेत्र को जैसे झकझोरकर चुनौती दे गया। और इससे भी आगे एक बृहत्तर चुनौती सामने आयी।

वह चुनौती थी, भारतीय रंगमंच की—हिन्दी जिसका प्रतिनिधित्व कर सके। क्योंकि हिन्दी ही इस नये प्रजातंत्र की राष्ट्र भाषा थी। इस संदर्भ में भारतीय रंगमंच क्या है, यह एक बुनियादी प्रश्न था।

लेकिन ध्यान देने की बात है, कि इस नवोन्मेष की प्रकृति और स्थिति क्या है? यह चेतना पूर्णतः हमारे वास्तविक समाज अथवा जनजीवन से उद्भूत है, अथवा उस पर आरोपित है? यह प्रेरणा अपने-आपमें है अथवा इसका स्रोत कहीं और है? इसकी स्थिति क्या है?

यह देखना चाहिए कि इस नवोन्मेष प्रेरणा-शक्ति क्या रही है? और उसके फलस्वरूप इसका रूप क्या बना है?

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद, हमारे देश का अंतर्राष्ट्रीय संबंध संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा बहुत तेजी से आगे बढ़ा। इस संदर्भ में यह भी स्पष्ट है कि हमारा देश राजनीति के स्तर से अधिक सांस्कृतिक स्तर से शेष संसार के सम्पर्क में आया—और विशेषकर ऐसे समुन्नत राष्ट्रों के सम्पर्क में, जो आर्थिक, औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में हमसे बहुत-बहुत आगे थे। स्वभावतः हमारा देश बहुत ही उदार भावना, और पूर्ण विश्वास से, मुख्यतः अपनी सांस्कृतिक उपलब्धियों के साथ उन समुन्नत राष्ट्रों के सामने आया। हमारा देश वास्तव में इसी स्तर से उनके मुकाबले में आ भी सकता था। इसके फलस्वरूप इंग्लैंड, अमरीका, रूस, फ्रांस तथा एशियाई देशों से हमारे सांस्कृतिक आदान-प्रदान प्रारम्भ हुए। बड़े-बड़े सांस्कृतिक शिष्टमंडल—कभी नृत्य के, कभी संगीत, चित्रकला तथा फिल्म आदि के, आने-जाने लगे। हमने बड़े गर्व से विदेशी शिष्टमंडलों को अपनी मूर्ति-कला, स्थापत्य कला, नृत्य और संगीत-कला के मेले और प्रदर्शनी दिखलाई और इस देश की सांस्कृतिक उपलब्धियों से उन समुन्नत राष्ट्रों को प्रभावित भी खूब किया।

पर इस सारे प्रसंग में हमें एक बहुत बड़े अभाव का सत्य खटका—विशेषकर राजधानी दिल्ली और हिन्दी-क्षेत्र के नगरों को। यहाँ न कोई जीवित रंगमंच था और न उसकी कोई व्यावहारिक नाट्यकला थी। हमारी प्रचुर सांस्कृतिक उपलब्धि, विशिष्टता और उसमें रंगमंच-जैसे सत्य का सर्वथा अभाव (जो सारी संस्कृति का दृश्य रूप है रस रूप है और कसौटी है)। यह विरोधाभास इस व्यापक और जीवन्त क्षेत्र को जैसे झकझोरकर चुनौती दे गया। और इससे भी आगे एक बृहत्तर चुनौती सामने आयी।

यह चुनौती थी, भारतीय रंगमंच की—हिन्दी जिसका प्रतिनिधित्व कर सके। क्योंकि हिन्दी ही इस नये प्रजातंत्र की राष्ट्र भाषा थी। इस संदर्भ में भारतीय रंगमंच क्या है, यह एक बुनियादी प्रश्न था।

जब हम भारतीय रंगमंच कहते हैं तो हमारे सामने बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात दक्षिण भारत और हिन्दी का बहु बहुरंगी, बहुरूपी विविध रंगमंच की बहुआयामी तस्वीर उभरती है—जिसमें कई परंपरायें हैं, कितने विभिन्न रंग संस्कार हैं। इन सब धाराओं, रंगों और परंपराओं के भीतर से ही भारतीय रंगमंच की अवधारणा प्राप्त की जा सकती थी। इसके लिये किसी एक ऐसे केन्द्रीय रंग संस्थान की अनिवार्यता महसूस की गयी जो अखिल भारतीय स्तर पर उसके बहुरंगी, बहुआयामी रंग स्थितियों के सेतु अथवा माध्यम बनकर भारतीय रंगमंच की प्रतिष्ठा में योग दे सके।

दिल्ली में 'संगीत नाटक अकादमी' और 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' इन दोनों संस्थाओं की प्रतिष्ठा के पीछे शायद यही दृष्टि विद्यमान थी।

मुख्यतः 'नेशनल स्कूल आफ ड्रामा' ने राष्ट्रीय स्तर पर भारतीय रंगमंच की तलाश और विशेषकर हिन्दी रंगमंच को एक नयी मर्यादा और स्तर देने में कई महत्त्वपूर्ण कार्य किये।

हिन्दी, हिन्दुस्तानी भाषा ही व्यावहारिक रूप से नेशनल स्कूल के रंग प्रदर्शन का माध्यम बनी। यद्यपि स्कूल में शिक्षण प्रशिक्षण की भाषा थी अंग्रेजी। पर चूँकि सारा आग्रह था रंगमंच के व्यवहार पक्ष पर, उसकी दृष्टि प्रतिष्ठा पर। इसलिये गत दो ढाई दशकों में जितने भी नये महत्त्वपूर्ण निर्देशक, अभिनेता, रंगशिल्पी संपूर्ण भारतवर्ष के रंगक्षेत्र में अवतरित हुए, इनमें अधिकांशतः इसी नेशनल स्कूल की ही सृष्टि हैं। नेशनल स्कूल के निर्देशक इब्राहिम अल्काजी के संचालन प्रशिक्षण में निकले हुए अनेक निर्देशक, अभिनेता और रंगकर्मी वर्तमान भारतीय रंगमंच के जीवंत उदाहरण हैं।

पर मुख्यतः हिन्दी रंगमंच को वास्तविक आधुनिक बोध देने का श्रेय विशेषकर इ० अल्काजी को है और सामान्यतः पूरे नेशनल स्कूल को है।

अल्काजी के निर्देशन और परिकल्पना में नेशनल स्कूल द्वारा प्रस्तुत, 'अंधायुग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'गोदान', 'शारदीया', और 'सूर्यमुख' जैसे हिन्दी के नये नाटकों द्वारा यह पहली बार अनुभूत हुआ कि अपने रंगमंच की शक्ति और सीमायें क्या हैं? कन्नड़ नाटक का हिन्दुस्तानी अनुवाद 'तुगलक' मोलियर के अंग्रेजी नाटक का हिन्दी अनुवाद 'कंजूस' और ऐसे कितने ही हिन्दुस्तानी अनुवादों के नाट्य प्रदर्शनों और उनकी कलात्मक उपलब्धियों ने हिन्दी रंगमंच

को एक महत्वपूर्ण ठोस आधार दिये। हिन्दी रंगमंच को सही अर्थों में अल्काजी के नाट्य प्रदर्शनों ने राष्ट्रीय अथवा अखिल भारतीय गौरव प्रदान किये। ओम शिवपुरी, सुधा, उत्तरा, बजाज, मोहन महर्षि, कारंथ, सोनटक्के, रैना, बलराज, पंडित और मनोहर सिंह, सुरेखा सीकरी जैसे महत्वपूर्ण निर्देशकों और अभिनेताओं का गम्भीर दल पैदा हुआ।

दिल्ली केन्द्र के अतिरिक्त अब हिन्दी रंगमंच का क्षेत्र कलकत्ता से लेकर बंबई तक विकसित होना शुरू हुआ। इस व्यापक क्षेत्र के भीतर पटना, इलाहाबाद, लखनऊ, कानपुर, जयपुर, जोधपुर, सागर, जबलपुर, आगरा, ग्वालियर, चण्डीगढ़ और शिमला तक गंभीर शौकिया हिन्दी रंगमंच की प्रतिष्ठा हुई।

मुख्यतः इलाहाबाद में लक्ष्मीनारायण लाल द्वारा संस्थापित और निर्देशित 'नाट्यकेन्द्र-स्कूल आफ ड्रैमेटिक आर्ट्स' की इस नये रंगमंच के अन्वेषण और प्रतिष्ठा में महत्वपूर्ण भूमिका है। हिन्दी के नये नाट्य लेखन, प्रदर्शन से लेकर संस्कृत, पाश्चात्य नाटकों के हिन्दी अनुवाद के वैज्ञानिक प्रस्तुतीकरणों ने हिन्दी क्षेत्र में रंगमंच के प्रति गहरी कलात्मक, वैज्ञानिक दृष्टि दी। इसी केन्द्र से डा० सत्यव्रत सिन्हा, जीवनलाल गुप्त और विमल कुमार जैसे निर्देशक और अभिनेता प्राप्त हुए।

इलाहाबाद से दिल्ली आकर लाल ने 'संवाद' नामक नाट्यसंस्था वहाँ स्थापित की और नेशनल स्कूल आफ ड्रामा के उत्तीर्ण कई महत्वपूर्ण स्नातकों ने अपने प्रथम चरण में इसी 'संवाद' में ही कार्य किया। ओम शिवपुरी, सुधा शर्मा (अब सुधा शिवपुरी) मोहन महर्षि, राम गोपाल बजाज, मूर्ती, परांजपे, गोविन्द आदि निर्देशकों, अभिनेताओं और रंग शिल्पियों के रंगकार्य महत्वपूर्ण उदाहरण हैं। 'संवाद' के उल्लेखनीय रंग कार्यों में 'सुनो जनमेजय', 'मिस्टर अभिमन्यु' के प्रस्तुतीकरण अर्थवान रहे हैं। विनोद ठाकुर, दयाप्रकाश सिन्हा, वीरेन्द्रनारायण और गोपाल माथुर और कृष्ण गोपाल के नाम 'संवाद' के जीवन से गहन अर्थों में जुड़े हैं।

नये रंगमंच की तलाश और प्रतिष्ठा

जिन व्यापक और गहन धरातलों पर हिन्दी रंगमंच की तलाश और प्रतिष्ठा इस वर्तमान काल और परिवेश में प्रारंभ हुई, उसके मुख्य क्षेत्र हैं :

(अ) हिन्दी प्रांतों के बाहर—बंगला रंगमंच क्षेत्र कलकत्ता में 'अनामिका' द्वारा और मराठी गुजराती रंगमंच क्षेत्र बम्बई में 'थियेटर यूनिट'

द्वारा। 'अनामिका' के माध्यम से श्यामानन्द जालान जैसे निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता का उदय, दूसरी ओर ई० अल्काजी द्वारा संस्थापित 'थियेटर यूनिट' के माध्यम से सत्यदेव दुबे जैसे निर्देशक और प्रस्तुतकर्ता के उदय इसके महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं।

(आ) हिन्दी प्रान्तों और क्षेत्रों में, क्रमशः इलाहाबाद में 'नाट्यकेन्द्र स्कूल आफ ड्रैमेटिक आर्ट्स' 'थ्री आर्ट्स' इलाहाबाद आर्टिस्ट्स असोसियेशन, 'प्रयाग रंगमंच' की स्थापना कानपुर में पहले प्रोफेसर सत्यमूर्ति द्वारा 'एम्बेसडर' फिर 'दर्पण' रंग संस्था की प्रतिष्ठा, दिल्ली में बेगम जैदी और हबीब तनवीर द्वारा 'नया थियेटर', 'हिन्दुस्तानी थियेटर' आर० पी० आनन्द द्वारा 'इन्द्रप्रस्थ थियेटर' आई० एस० दास द्वारा 'एस० टी० जी०' की स्थापना तथा रमेश मेहता द्वारा 'थ्री आर्ट्स, की प्रतिष्ठा तथा सम्प्रति :

ओम शिवपुरी द्वारा 'दिशान्तर'

टी० पी० जैन और राजेन्द्रनाथ द्वारा 'अभियान'

आदि हिन्दी रंगदलों की प्रतिष्ठा और कार्य इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

कलकत्ता, बम्बई से लेकर इलाहाबाद, कानपुर और दिल्ली इन समस्त केन्द्रों से हिन्दी रंगमंच का जो स्वरूप विकसित हुआ, उसमें यह सत्य उभरा कि रंगमंच अपने आप में स्वायत्त कला है नाट्य दर्शन है। रंगकला काव्य की भांति भावनाओं, विचारों की अभिव्यक्ति मात्र नहीं है, बल्कि यह मनुष्य और समाज, देश और काल के गतिशील कार्यव्यापार के रूप में संपूर्ण जीवन की अनुभूति को प्रस्तुत करता है। चित्र, मूर्ति, संगीत तथा अन्य कलाओं की अभिव्यक्तियों की अपेक्षा रंगमंच जीवन को अधिक समग्रता, सम्पूर्णता के साथ प्रस्तुत करता है।

सम्प्रति दिल्ली के रंगमंच जगत में और सामान्यतः हिन्दी मंच पर सुधा शिवपुरी, सुधा चोपड़ा, सुषमा सेठ, कविता नागपाल, टी० पी० जैन, शिवपुरी, श्याम अरोड़ा, अशोक सरीन, रामगोपाल बजाज के नाम अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

□ □

आधुनिक हिन्दी नाटक

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक हिन्दी नाटक की भूमिका वर्तमान सदी के प्रारम्भ से शुरू होती है। इस सदी में हिन्दी नाटक के विकास को सोचते ही कई बातें सामने घूम जाती हैं। पहली बात यह है कि बीसवीं सदी के दूसरे दशक के प्रारम्भ से जयशंकर प्रसाद जैसे नाटककार का नाम कौंधने लगता है और यह स्पष्ट करना कठिन होता है कि जयशंकर प्रसाद का नाट्य-लेखन और उनका सम्पूर्ण नाट्य-साहित्य रंगमंच की कोटि में रखा जाय या शुद्ध साहित्य की कोटि में। दूसरी बात यह है कि बीसवीं सदी के प्रारम्भ में हिन्दी का अपना वह कौन-सा रंगमंच था जिसे हम इस विकास क्रम में चर्चित करें। तीसरी बात यह कि बीसवीं सदी से पूर्व उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी-साहित्य तथा हिन्दी रंगमंच के प्रथम और अतिमहत्वपूर्ण नाटककार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर कैसे इस सदी के नाटककारों की चर्चा करें।

बीसवीं सदी के हिन्दी नाटकों की चर्चा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र को छोड़कर नहीं की जा सकती, क्योंकि भारतेन्दु का नाटककार व्यक्तित्व एक ऐसी बुनियादी जमीन तैयार करता है जिसके ऊपर बीसवीं सदी के हिन्दी नाटक और रंगमंच की इमारत देखी जा सकती है। अपने काल में नाटककार भारतेन्दु के सामने विशुद्ध नाट्य-स्तर पर तीन धाराएँ सामने थीं। पहली धारा थी—संस्कृत की नाट्य परम्परा और उससे भी नजदीक मध्ययुगीन लोक-नाटकों की। दूसरी धारा थी तत्कालीन समाज में व्याप्त हिन्दी क्षेत्रों की अपनी लोक-रंग-मंची परम्परा पर एक लोक-नाट्य धारा की। तीसरी धारा थी पश्चिम की 'शेक्सपियरियन' नाट्य-धारा, जो दो रूपों से उस काल में प्रवहमान थी। पहला रूप था 'शेक्सपियरियन' के माध्यम से पश्चिम के रंगमंच का जो सीधे अंग्रेजी द्वारा, (जो हमारे उस काल के शासक थे और जिनके हाथों में सारी सांस्कृतिक चेतना, शिक्षा आदि जिनके संचालन से समाज और देश आगे बढ़ने को था,

उनके द्वारा) लायी हुई, और दूसरे उनकी नकल और कुछ यहाँ के स्थानीय तत्वों के समन्वय से पैदा हुई व्यावसायिक पारसी 'थियेटर' की धारा।

इन तीनों धाराओं का भारतेन्दु ने बहुत समीप से अध्ययन किया था। इन तीनों के रंगमंचीय शास्त्रों को अनुभूत किया था। उन्होंने संस्कृत रंगमंच और उसके नाट्य के अनुसरण में जहाँ विविध नाट्य-प्रकारों की रचना की वहाँ उन्होंने पारसी रंगमंच के नाट्य तत्व के आधार पर भी 'भारत दुर्दशा' और 'सत्य हरिश्चन्द्र' जैसे नाटकों की रचना की, तथा विशुद्ध लोक-मंच की तलाश में उन्होंने 'अंधेर नगरी' जैसे नये नाट्य-प्रकार की खोज की। स्पष्ट रूप से उन्होंने इन तीनों धाराओं के भीतर से व्यावहारिक और सृजनात्मक, इन दोनों स्तरों से यह खोज करनी चाही कि हिन्दी का अपना नाट्य और रंगमंच क्या हो? वह बुनियादी तौर पर अपने लोक-रंगमंच के रंगतत्वों को आधार बनाकर हिन्दी का अपना मौलिक नाट्यस्वरूप सोच रहे थे। इसके लिए उन्होंने मंच की भी रचना की, स्वयं उन्होंने नाटक खेले तथा नाटकों को रंगमंच की बुनियाद पर खड़ा करके देखा।

इस प्रसंग में बीसवीं सदी के प्रारम्भ में दो तथ्य उल्लेखनीय हैं। प्रथम, बीसवीं सदी के प्रथम दशक से ही पारसी थियेटर के व्यावसायिक रंगमंच का बहुत उन्नत हो जाना और फिर मध्य-देश, अर्थात् हिन्दी भाषी क्षेत्र को अपने प्रभाव में ले लेना। दूसरा तथ्य है, बीसवीं सदी के पहले विशिष्ट नाटककार, जयशंकर प्रसाद का व्यावहारिक रंगमंच से दूर हटना। व्यावसायिक पारसी थियेटर की प्रतिक्रिया में अपने को खड़ा कर देना और अन्ततोगत्वा इस निष्कर्ष पर पहुँच जाना कि नाटक को रंगमंच की तलाश नहीं होती, बल्कि रंगमंच को जरूरत होती है नाटक की। यही वह बुनियादी सत्य है, विरोधाभास है, जो हिन्दी नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में आगे एक बड़े व्यवधान को जन्म देता है। वस्तुतः हर नाट्य-कृति में उसका अपना एक रंगमंच छिपा होता है, जैसे 'शेक्सपियर' के नाटक में उसका रंगमंच छिपा था और 'कालिदास' के नाटक में 'कालिदास' का अपना रंगमंच व्याप्त था। इस रंगमंच के सत्य को नाटक में वही स्थिति है जैसे शरीर में अस्थि और पंजर की हालत रहती है। जैसे बिना अस्थि पंजर के प्राण और आत्मा की कल्पना नहीं की जा सकती, उसी तरह बिना रंगमंच सत्य के किसी नाट्य-कृति की कल्पना नहीं की जा सकती।

फिर भी यदि हम जयशंकर प्रसाद के नाटकों का अध्ययन करें और उन नाटकों के भीतर छिपे हुए रंगमंच का पुनर्मूल्यांकन करें तो हमें कई बातें स्पष्ट दिखायी देती हैं। प्रायः विद्वानों ने जयशंकर प्रसाद के नाटकों का 'भारतीय अध्ययन' करके सीधे यह कहा है कि उनमें संस्कृत और शेक्सपियरियन दोनों नाट्य-तत्वों का सुन्दर समन्वय है। इसके लिए विद्वान लोग एक अजब उदाहरण देते हैं कि प्रसाद ने अपने नाटकों की आत्मा में दो आत्माएं प्रतिष्ठित कीं। पहला संस्कृत की रस आत्मा और दूसरी पश्चिम की संघर्ष आत्मा। लेकिन जाहिर है किसी भी अस्तित्व में दो विरोधी आत्माएं कैसे रह सकती हैं? जहाँ संघर्ष होगा वहाँ रस नहीं होगा, और जहाँ रस होगा वहाँ संघर्ष नहीं होगा। कुछ विद्वानों ने इसके स्पष्टीकरण में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि रस 'प्रसाद' के नाटकों की अन्तस्थ सीमा है और संघर्ष उनके नाटकों में बाह्य धारा है। प्रसाद के नाटकों का यदि साहित्यिक और रंगमंचीय अध्ययन किया जाय तो वास्तव में यह दोनों तथ्य किसी स्तर से ऊपर प्रकट होते हैं। लेकिन यही उनके समूचे नाट्य-साहित्य का विरोधाभास भी है। उनके नाटक फलतः साहित्यिक या काव्यात्मक होकर रह जाते हैं। उनमें उनके रंगमंचीय पक्ष क्षीण या गौण पड़ जाते हैं। सच्ची बात यह है कि प्रसाद ने 'शेक्सपियर' का रंगमंच न ग्रहण कर कुछ पारसी रंगमंच का तत्व ग्रहण किया था। इस तथ्य में उन्होंने अपना साहित्यिक अथवा काव्यात्मक तत्व प्रकट करना चाहा। इसे यदि हम और स्पष्ट करें तो कह सकते हैं कि उन्होंने अपने नाटकों में जिस रंगमंच की कल्पना की वह पर्दों वाला रंगमंच था जो उनके नाट्य-वस्तु के लिए पूर्णतः अपर्याप्त था। पर्दों का रंगमंच एक आयामी था और इस एक आयामी रंगमंच में उन्होंने अपने तीन आयामी नाट्य-वस्तु को प्रकट करना चाहा। फलतः उनका नाट्य-साहित्य व्यावहारिक रंगमंच से दूर छूट गया और यहीं से साहित्यिक नाटक की परम्परा शुरू हो गई। जिसे यदि हम और गहराई से देखें तो पाते हैं कि उस काल का पारसी थियेटर, नाट्य-लेखन अपने रंगमंच के अनुकूल जो कथा-वस्तु निर्मित करता था, यद्यपि वे भी जयशंकर प्रसाद की तरह पौराणिक, ऐतिहासिक तथा रोमांटिक नाटकों की ही कोटि में करते थे, लेकिन पारसी रंगमंच के कलाकार अपने पर्दों वाले रंगमंच की सीमा और मर्यादा को अच्छीभाँति जानते थे।

□ □

जयशंकर प्रसाद का नाट्य

प्रसाद ने जिस समय हिन्दी नाट्यक्षेत्र में प्रवेश किया, उस समय वह युग सृजन स्तर से भारतेन्दु और महावीरप्रसाद द्विवेदी युग की काव्य चेतना और शुद्ध रंगमंचीय स्तर से पारसी रंगमंच से प्रभावित थे।

पर ऐतिहासिक दृष्टि से एक विचित्र सत्य या तथ्य उनके सामने था। उनके समय तक आते आते भारतेन्दु की नाट्यप्रेरणा और उसका रंग प्रभाव प्रायः समाप्त हो चुका था। हिन्दी की एमेचर नाट्यमंडलियाँ सरल, सस्ते, हल्के नाटक ही खेलने में समर्थ थीं। इससे भी ज्यादा, उन पर उस काल का अत्यन्त शक्तिशाली, प्रभावपूर्ण पारसी थियेटर का ही प्रभाव था। बल्कि यूँ कहना चाहिए कि उसी की छत्रछाया में, उसी वटवृक्ष की छाया में हिन्दी की शौकिया रंगमंडलियाँ साँस ले रही थीं।

पर एक सौभाग्य भी मिला प्रसाद को। द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया और राष्ट्रीय संग्राम, भारतीय स्वतंत्रता के संघर्षों से उत्पन्न राष्ट्र के तारुण्य की स्वप्निल उमंगों ने छायावाद को जन्म दे दिया था।

पर यह सब परिवेश की बात थी। बाहरी स्थितियाँ थीं। इनके भीतर स्वयं प्रसाद का सृजनकारी व्यक्तित्व क्या था, उस पर अपने क्या क्या संस्कार कार्य कर रहे थे, कला, काव्य और सौन्दर्य के बारे में उनकी अपनी आंतरिक स्थिति क्या थी, इसका परिचय महत्वपूर्ण है।

प्रसाद के सौन्दर्यबोध मूलक संस्कार

'प्रसाद' का बचपन भारतेन्दु की कीर्ति और उनके गौरवपूर्ण साहित्य की छाया में बीता। भारतेन्दु की मृत्यु के चार वर्ष बाद प्रसाद का जन्म हुआ। बारह वर्ष की अवस्था में, पिता के देहान्त के उपरान्त उन्हें स्कूल की पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी और घर ही पर उन्हें दीनबन्धु ब्रह्मचारी-द्वारा संस्कृत का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हुआ। इसके उपरान्त उन्हें वेद, उपनिषद् महाकाव्यों के पढ़ने

की सर्वसुलभ परिस्थिति मिली। अतएव इसके हृदय में भारतीय संस्कृति की गरिमा और पुरातन की मर्यादा दोनों तत्वों ने अपूर्व स्थान प्राप्त किया। इन मनोभावों का सम्पर्क जब इनकी काव्य-प्रतिभा से हुआ, तो इनका काव्यात्मक दृष्टिकोण बहुत ऊँचे स्तर पर स्थापित हुआ।

काव्य के संबंध में इनकी अपनी अलग कसौटी बन गयी, जिसमें इनके एक ओर साहित्य और शिक्षा के संस्कार कार्य कर रहे थे, तथा दूसरी ओर इनकी काव्य-प्रतिभा कार्य कर रही थी। इन दोनों ने इनमें एक अलग साहित्यिक संस्कार का जन्म किया, जिसकी मान्यता बहुत ऊँचे स्तर की थी, "काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है, जिसका सम्बन्ध विश्लेषण, विकल्प या विज्ञान से नहीं है, वह एक श्रेयमयी प्रेय रचनात्मक ज्ञान-धारा है। विश्लेषणात्मक तर्कों से और विकल्प के आरोप से विलग न होने के कारण आत्मा की मनन-क्रिया जो वाङ्मय रूप में अभिव्यक्त होती है, वह निःसन्देह प्रागमय और सत्य के उभय लक्षण, प्रेय और श्रेय दोनों से परिपूर्ण होती है। इसी कारण हमारे साहित्य का आरम्भ काव्यमय है। वह एक द्रष्टा कवि का सौन्दर्य है, दर्शन है।"[1] इस तरह प्रसाद के ऊँचे साहित्यिक संस्कार ने इनमें काव्य की परिष्कृत भावनाओं को जन्म दिया। साहित्य की समस्त विधाओं, नाटक, कहानी, काव्य, खंडकाव्य और महाकाव्य में इनका दृष्टिकोण विशुद्ध रसात्मक और दार्शनिक हो गया, क्योंकि इनके साहित्यिक संस्कारों ने इस सत्य से इनको अभिभूत कर दिया था।

यह सत्य प्रसाद के मन में निश्चित हो गया था कि काव्य आत्मा की संकल्पात्मक अनुभूति है और साहित्य का आरम्भ काव्यमय है, और काव्य-द्रष्टा कवि का सुन्दर दर्शन है। काव्य की इन्हीं परिष्कृत भावनाओं में प्रसाद के नाट्य का उद्गम होता है। इनका संस्कार बिल्कुल स्वतन्त्र और अपना है। इसका समूचा भावपक्ष काव्यात्मक है इनके नाट्य के पीछे जो प्रेरणा और भावबिन्दु है, वह एक ओर काव्य के समीप है, और दूसरी ओर कथा के समीप।

इस तरह प्रसाद के नाट्य की सृष्टि और उनका उद्गम, काव्य और नाटक की परिष्कृत भावनाओं से हुआ है, नाटक की सामान्य सीमा में नहीं।

१. काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध—प्रसाद, पृष्ठ १७, १८।

प्रसाद के नाट्य के अध्ययन में हमें निश्चय ही इस तथ्य को ध्यान में रखना होगा।

प्रसाद के व्यक्तित्व का मूल धरातल समन्वय है। कल्पना-वृत्ति ही प्रसाद के समस्त काव्य-रूपों का मूल स्रोत है, जहाँ भाव-पक्ष और शैली पक्ष का संगम है। कल्पना की आधार-भूमि पर जब आदर्श तत्व के साथ संगीत का संयोग होता है तब प्रसाद की काव्य सृष्टि होती है, जब इस कल्पना में दर्शन और अतीत का संयोग होता है, तब नाटक की सृष्टि होती है। प्रसाद का साहित्य—कल्पना आदर्श, परिष्करण, संगीत, दर्शन, अतीत और मनोविज्ञान के समन्वयात्मक धरातल पर स्थिर है। इस तरह हम देखते हैं कि प्रसाद के समस्त काव्य-रूपों के आधार-तत्व एक से हैं; केवल उनके सामान्य पक्षों और रूपों में विभिन्नता है। यही कारण है कि प्रसाद के नाटकीय संवाद उनके गीति तत्व से अधिक प्रेरित होकर गद्यगीत हो गये हैं।

एक तरह से प्रायः प्रसाद का नाटककार उनके कवि व्यक्तित्व का ही एक पूरक आयाम है। पर इसका एक व्यापक और गहन स्वरूप है प्रसाद के नाटककार व्यक्तित्व में। मैथिलीशरण गुप्त के काल से लेकर आगे तक जो राष्ट्रीय, सामाजिक, नैतिक, सौन्दर्यमूलक चेतना कार्यरत थी और जिसकी अभिव्यक्ति काव्य के माध्यम से उस काल के कवि कर रहे थे, वही, उन्हीं आदर्शों की अभिव्यक्ति प्रसाद अपने नाटकों के माध्यम से कर रहे थे।

पर यह तो एक सुदृढ़ आधार था प्रसाद के नाटकों की कथावस्तु के लिये। इसमें जो सृष्टि हुई है—वह है चाणक्य, चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, मालविका, देवसेना, ध्रुवस्वामिनी, कोमा आदि चरित्रों के माध्यम से नये मानव मूल्यों की प्रतिष्ठा। उस समय जिस राष्ट्रीय, राजनीतिक धरातल पर तिलक, गोखले, रानाडे और गाँधी तथा बाद में नेहरू अपने भारत में नये भारत को तलाश रहे थे और उसे नया राजनीतिक अर्थ देना चाह रहे थे, ठीक उसी तरह प्रसाद विशुद्ध सांस्कृतिक धरातल से उसी नये भारत के मर्म और अर्थ को टटोल रहे थे, और उसे अपने ही ढंग से प्रतिष्ठित कर रहे थे। अपनी स्वाभाविक प्रवृत्ति, तथा अपने राष्ट्रीय विश्वासों के कारण अपने समसामयिक संदर्भों और घटनाओं, कार्य पक्षों को अतीत और इतिहास के माध्यम से, उसी स्वर्णिम अतीत, उन्हीं महत् विश्वासों के स्तर से देखने की

कोशिश कर रहे थे। और अंग्रेजी संस्कृति के आक्रामक स्वभाव के कारण यहाँ जो एक सांस्कृतिक परिदृश्य उत्पन्न हुआ था, उसे अपनी चेतना के विविध स्तरों से सोचना चाहा था। इन्हीं तथ्यों, प्रेरणाओं के ही कारण प्रसाद के नाटकों में कहीं स्वच्छन्दतावाद है, कहीं रूमानियत, कहीं दर्शन तो कहीं पुरा इतिहास और कहीं प्रत्यक्ष उद्बोधन और कहीं शुद्ध यथार्थ बोध है।

प्रसाद का काल था—स्वतंत्रता संग्राम का वह चरण, जहाँ भारतीय जनमानस राष्ट्रीय चेतना और गौरव से अभिभूत था। प्रश्न है प्रसाद के सभी नाटकों में, जिसकी कथावस्तु युद्ध, प्रेम, हत्या, घृणा, त्याग, वीरता और बलिदान के अनुभवों और भावों से परिपूर्ण है, उसमें वह संघर्षशील जन मानस कहाँ है?

दरअसल प्रसाद अपने काव्यकला के प्रतिमानों और सौन्दर्यबोधमूलक संस्कारों के कारण जन में ऊपर आभिजात्य वर्ग से ही सम्पृक्त थे। इतिहास के लिये जिन पृष्ठों से अध्यायों से उन्होंने अपनी नाटकीय कथा ली, स्वभावतः उसी आभिजात्य जीवन स्तर, आदर्श और जीवन मूल्यों की अभिव्यक्ति उसी तरह के चरित्रों से संभव थी। पर प्रसाद का सारा नाट्य-संसार, आभिजात्य, सामंतीय परिवेश और वातावरण के बावजूद, कहीं से भी न तो प्रतिक्रियावादी है, न संकीर्ण है न संकुचित है। इसमें सर्वत्र यथार्थबोध और युगबोध है—यही सत्य प्रसाद के नाटकों को एक ओर पारसी थियेटर के नाट्य से ऊपर उठा जाता है, दूसरी ओर यही सत्य प्रसाद को महत्त्वपूर्ण नाटककार का दर्जा देता है।

इधर के अधुनातन अनुसंधानों से पता चलता है कि नाटककार प्रसाद की रचनाओं के सृजन सोपान काफी पीछे से आगे, ऊपर चले हैं।

सबसे प्रथम, उन्होंने 'उर्वशी' नामक कथा नाटक की रचना की है। 'उर्वशी' कथानाटक की विधा में भारतेन्दुकालीन नाटक, उनके समसामयिक पारसी थियेटर और लोकनाट्यमंच शैलियों का मिश्रित उपयोग किया गया है।[1]

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास (एकादश भाग) नागरी प्रचारिणी सभा प्रकाशन, प्र० संस्करण, पृष्ठ १४३

इसके उपरान्त 'बभ्रुवाहन' नामक रचना का क्रम आता है। 'बभ्रुवाहन' की रचना तो बिल्कुल पारसी थियेटर के नाटकों के समानान्तर हुई है। कथानक, चयन, प्रतिपादन, शैली सभी दृष्टियों से यह आगा हश्र काश्मीरी के 'रुस्तम सोहराब' के समकक्ष रखी जा सकती है। [1]

प्रसाद के नाट्य का अगला सोपान उनके एकांकियों (?) में मिलता है :

सज्जन
प्रायश्चित
करुणालय
कल्याणी परिणय

इन कृतियों को सामान्यतः एकांकी इसीलिये कहा गया कि ये उसी विधा के समीप हैं। पर वैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें एकांकी नहीं कहा जा सकता। मूल कारण यह कि इनमें यथार्थबोध और संघर्ष का पूर्ण अभाव है। इनकी कथा पर शुद्ध पुनरुत्थानवादी चेतना का आग्रह है और नाट्य-शिल्प पर एक ओर संस्कृत के लघु नाट्य प्रकारों का प्रभाव है तो दूसरी ओर पारसी थियेटर का।

प्रसाद का प्रतिनिधि नाट्य

प्रसाद के वास्तविक नाट्य का स्रोत इतिहास है। 'राज्यश्री' की भूमिका में प्रसाद ने लिखा है कि 'मैं इसे अपना प्रथम ऐतिहासिक रूपक मानता हूँ।' यह सच है कि पारसी रंगमंच के ऐतिहासिक नाट्य से सर्वथा अलग और असमान, राज्यश्री में पहली बार प्राचीन भारत के प्रारम्भिक इतिहास और साहित्य ग्रन्थों से सामग्री ग्रहण की गयी है। इसमें वर्णित घटनाओं का मुख्य आधार है 'हर्ष चरित' और ह्वेनसांग का भारत यात्रा वर्णन। पर 'राज्यश्री' पर कल्पना, भावुकता के अंश और तत्व इतिहास तत्व से कहीं ज्यादा घने हैं।

'विशाख' का आधार तो अर्धऐतिहासिक अर्थ है ही। फिर भी इसकी कथा-वस्तु कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' के आधार से ली गयी है।

'अजातशत्रु' का फिर ठोस आधार ऐतिहासिक है। इसमें मगध, बुद्ध, अजातशत्रु, वत्स, उस समय के सोलह जनपदों के नाटकीय प्रसंग हैं। कुल मिला कर इसमें इतना इतिहास, इतने तत्कालीन संदर्भ और तथ्य

---

1. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, एकादश भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, प्र० संस्करण, पृष्ठ १४५-१४६।

ता का क्रम आता है । 'बभ्रुवाहन'
के नाटकों के समानान्तर हुई है ।
कियों से यह आभाहम्य कमीटी के
है । 1
के एकांकियों (?) में मिलता है :

ये कहा गया कि ये इसी विधा
कांकी नहीं कहा जा सकता । मूल
का पूर्ण अभाव है । इसकी कथा
है और नाट्य-शिल्प पर एक ओर
दूसरी ओर पारसी थियेटर का ।

हास है । 'राजश्री' की भूमिका
ऐतिहासिक रूपक मानता हूँ ।'
निक नाट्य से सर्वथा अलग और
ल के प्रारम्भिक इतिहास और
इसमें घटित घटनाओं का मुख्य
न यात्रा वर्णन । पर 'राजश्री'
व तत्त्व तो कई ज्यादा चुने हैं ।
हत्त्व है ही । फिर भी इसको
दे भी गयी है ।
सिक है । इसमें मगध, बुद्ध,
के नाटकीय प्रसंग हैं । कुल
कालीन संदर्भ और तथ्य

चन्द्र भाग, नागरी प्रचारिणी

नाट्य केन्द्र, स्कूल आफ ड्रैमेटिक आर्ट्स, इलाहाबाद द्वारा प्रस्तुत 'रक्तकमल'
में लक्ष्मीनारायण लाल, विमल कुमार और रम्मलाल गुप्त ।

↑ नेशनल-स्कूल आफ ड्रामा, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'तुगलक' में ओम शिवपुरी और मोहन महर्षि।

↓ अनामिका, कलकत्ता द्वारा प्रस्तुत 'दर्पन' में चेतना तिवारी

तनवीर द्वारा
र का 'आगरा

ा, दिल्ली
ती' में गोपाल
।

ामा, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'तुगलक' में ओम
ी और मोहन महर्षि।

ता द्वारा प्रस्तुत 'दर्पन' में चेतना तिवारी

↑
तनवीर द्वारा निर्मित नया
र का 'आगरा बाजार'।

ा, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत
की' में गोपाल माथुर और
।
→

नया थियेटर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'रुस्तम सोहराब'। ←

एन.टी.जी., दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'कौन माता कौन पिता तुम्हारे' में वेद सिन्हा, जैमिनी कुमार और सविता बजाज। ↓

संवाद, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'दुर्गा जनमेजय' में ओम शिवपुरी और रामगोपाल बजाज →

दिशान्तर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' में ओम शिवपुरी, सुधा-शिवपुरी और बी० एम० बडोला। ↓

अभियान, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'करफ्यू' में कविता नागपाल और अशोक सरीन। ←

नया थियेटर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'रुस्तम सोहराब'।
←

एल.टी.जी., दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'कौन माता कौन पिता तुम्हारे' में वेद सिन्हा, जैमिनी कुमार और सविता बजाज।
↓

संवाद, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'सुनो जनमेजय' में ओम शिवपुरी और रामगोपाल बजाज
→

दिशान्तर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'आषाढ़ का एक दिन' में ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी और बी० एम० बटोला।
↓

अभियान, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'करफ्यू' में कविता नागपाल और अशोक मरीज।
←

दर्पन, कानपुर द्वारा प्रस्तुत 'मिस्टर अभिमन्यु' में राकेश वर्मा और प्रमोद बाला।
←

संवाद, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'मिस्टर अभिमन्यु' में दिनेश ठाकुर और माधवी।
↓

नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा दिल्ली द्वारा प्रस्तु 'सूर्यमुख' में रोहिनी ओ और श्रीमपुरी।

↓ दिशान्तर, दि

दर्पन, कानपुर द्वारा प्रस्तुत 'मिस्टर अभिमन्यु' में राकेश वर्मा और प्रमोद बाला।
←

नेशनल स्कूल आफ ड्रामा दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'सूर्यमुख' में रोहिनी ओक और ओमपुरी।
→

संवाद, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'मिस्टर अभिमन्यु' में दिनेश ठाकुर और माधवी।
↓

↓ दिशान्तर, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'आधे-अधूरे' में सुधा और अनुराधा।

↑ अभियान, दिल्ली द्वारा प्रस्तुत 'अब्दुल्ला दीवाना' में कविता नागपाल और हरीश कश्यप।

↓ प्रयाग रंगमंच इलाहाबाद द्वारा प्रस्तुत, 'एक स्थिति' में कंचनलाल गुप्त और सुमन

है कि मा
कितना म
होगा।

'अमं
हुआ पा
तत्वों प
रचना है

महत्वपूर्ण

पर
स्कू
चन्
द्वु
और

का। 'अ
यही यहां
प्रतिष्ठि

इस
साथ अपने
से युक्त है

इस
समृद्धि के
पहली बा
है। तभी
सबसे अ
कल्याणम

इस
फलस्वरू

५

'आधुनिका वीगाथा' में कविता
ल कश्यप।
तारा प्रस्तुत 'एक स्थिति' में
और सुमन

है कि नाटक का मजा ही जैसे बंध गया है। शायद तभी इसका कथानक जितना जटिल और संश्लिष्ट है कि इसमें नाटक को ढूंढ़ना असफल प्रयास होगा।

'जनमेजय का नागयज्ञ' निश्चय ही 'अजातशत्रु' से बहुत पहले का लिखा हुआ जान पड़ता है, पर चूंकि इसमें पौराणिकता के बावजूद यथार्थवादी तत्वों पर अधिक आग्रह है, इसलिये प्रायः भ्रम होता है कि यह बाद की रचना है। क्योंकि इसमें प्रसाद की भावुकता, रूमानियत बहुत ही कम है।

महत्वपूर्ण नाट्य

पर प्रसाद के नाट्य के महत्वपूर्ण कृतित्व हैं:

स्कन्दगुप्त

चन्द्रगुप्त और

ध्रुवस्वामिनी

और इन तीनों नाट्यकृतियों में भी सबसे महत्वपूर्ण स्थान है स्कंदगुप्त का। 'जनमेजय के नागयज्ञ' में प्राचीन चेतना जिस धरातल से शुरू हुई थी, वही यहां स्कंदगुप्त में अपनी सम्पूर्ण व्यापकता और गहनता की चरमसीमा पर प्रतिष्ठित हो गयी।

इसमें छायावादी रूमानी चेतना, अपनी पूरी कल्पना, सृजनात्मकता के साथ अपने युग और काल के नैतिक, सामाजिक, दार्शनिक रागात्मक संवेदनाओं से युक्त होकर मानवीय हो गयी।

इसकी कथावस्तु कुमारगुप्त के राज्यकाल से गुप्त साम्राज्य के वैभव और समृद्धि के भीतर से ली गयी है। पर विशेष बात यह है कि इसकी कथावस्तु पहली बार भरसक पूरी सावधानी और नाटक तत्वों के परिप्रेक्ष्य में स्थापित है। तभी इसमें अपेक्षाकृत ऐतिहासिक सामग्री का उपयोग सबसे कम है। और सबसे अधिक उपयोग है कल्पना नाटकीयता, मानवीय सौन्दर्यबोध और करुणातत्व का।

प्रसाद ने जिस सूक्ष्म दृष्टि से और अपने समसामयिक राष्ट्रीय चेतना के फलस्वरूप जिस मानवीय संदर्भ से स्कंदगुप्त के चरित्र की सृष्टि की है, वह

आधुनिक हिन्दी नाट्य में अपूर्व है। प्रसाद ने इसकी अन्विति का निर्माण आंतरिक और विदेशी आक्रमणों की विकट परिस्थिति के बीच से शुद्ध भारतीय कर्मधर्म के धरातल से किया है।

एक ओर इसमें प्रसाद के रंगमंच की झलक मिलती है—(यद्यपि पारसी थियेटर के ही रंगतत्वों के भीतर से इसकी रचना है।) तो दूसरी ओर यही वह अकेला नाटक है जिसमें कथा, चरित्र, रूपबंध, चेतना और भावना का सुन्दर समन्वय स्थापित है।

स्कंदगुप्त से फिर असमान चन्द्रगुप्त की कथा इतिहास के प्रसिद्ध प्रसंगों की कथा है। चाणक्य प्रसंग, मौर्यक्रांति, सिकन्दर का आक्रमण, मौर्यवंश का अन्तरविरोध, नन्दवंश, चन्द्रगुप्त की विजय, चाणक्य की कूटनीति, ये सभी अनुक्रम प्रायः ऐतिहासिक तथ्यों के अनुरूप ही इस नाटक में प्रयुक्त हुए हैं।

प्रसाद ने इस नाटक में स्कंदगुप्त की अपेक्षा और सुन्दर धरातल पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में अपने समय की चेतना और यथार्थ और आदर्शबोध की अभिव्यक्ति देनी चाही है। पर वह उतने सफल नहीं हुए हैं। इसका मुख्य कारण था—वही इतिहास सत्य और उस पर आरोपित पुनरुत्थान की चेतना। फलतः इसका कथानक जटिल, शिथिल और अनाटकीय हुआ है, दूसरे इसमें कथातत्व के रंग उभर आये हैं।

प्रसाद जी शायद इस नाटक को महाकाव्यात्मक नाटक बनाना चाहते थे, पर उनमें यथार्थ, निश्चित रंगबोध के अभाव ने और पारसी थियेटर के अस्वाभाविक दबाव ने इतनी असंगतियाँ—कथावस्तु के आधार से, चरित्र विकास क्रम से—पैदा कीं कि यह नाटक मानवीय, काव्यात्मक, सौन्दर्यबोध मूलक अपार सम्पत्ति के बावजूद उतना प्रभावपूर्ण और सफल नहीं बन सका।

'ध्रुवस्वामिनी' नाट्य सामग्री और रूपबंध की दृष्टि से, दूसरी ओर कथावस्तु और काव्यतत्वों के कारण उल्लेखनीय कृतित्व है।

यह उनका ऐसा पहला नाटक है जहाँ उन्होंने कथा का विस्तार अनावश्यक रूप से नहीं किया। यह सही अर्थों में प्रसाद का आधुनिक नाटक है।

कुल तीन अंकों का नाटक। प्रथम अंक में ध्रुवस्वामिनी की उदासीनता और चन्द्रगुप्त के प्रति उसका प्रेम, दूसरे अंक में उसके सम्पूर्ण यथार्थ स्थितियों का उद्घाटन और तीसरे अंक में ध्रुवस्वामिनी की मुक्ति।

लगता है, इस नाटक द्वारा प्रसाद ने आधुनिक युग में स्त्री मुक्ति, नारी स्वतंत्रता के प्रश्न को ऐतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देने का प्रयास किया है।

प्रसाद का सारा नाट्य किसी न किसी स्तर से इतने काव्यगुणों और तत्वों से सम्पन्न है कि उसकी परिकल्पना जैसे ही हम या स्वयं प्रसाद भी पारसी थियेटर की पर्दे वाले यथार्थ और अतिनाटकीय रंगतंत्र से करते हैं, वैसे ही इन नाटकों में व्याप्त विरोधाभास—कथा और रूप से, रंग शिल्प और संवेद्य वस्तु विषय से, सामने आ जाता है। दरअसल प्रसाद के भाव पक्ष, कथा और काव्य तत्वों को ध्यान में रखकर इनके नाटकों का सारा रूपबंध अयथार्थवादी होना चाहिए—उदाहरण के लिये आकारवादी, प्रतीकवादी या अभिव्यंजनावादी। तभी इन नाटकों का सौन्दर्य समझा जा सकता है।

□ □

समस्या नाटक नहीं
यथार्थवादी धारा

●

आधुनिक हिन्दी नाट्य परम्परा में सामाजिक नाटकों को समस्या नाटक की संज्ञा दे देना इस बात का स्पष्ट संकेत करता है कि सामान्यतः हिन्दी मनीषा में रंगमंच बोध का अभाव है। बोध अभाव, रचना और अध्ययन, इन दोनों स्तरों पर।

क्योंकि प्रत्येक नाट्य रचना में चाहे वह यथार्थवादी हो या अयथार्थवादी, चाहे वह ऐतिहासिक हो या सामाजिक, उसका बुनियादी आधार होता है—'समस्या'। समस्या चाहे जैसी, जिसकी हो, पर समस्या ही मूल प्राण है किसी नाट्य रचना का।

सामान्यतः आधुनिक हिन्दी नाट्य में मुख्यतः लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट और उपेन्द्रनाथ 'अश्क' को इसके अन्तर्गत रख लेते हैं। पर ऐसा सर्वथा अनुचित है, अवैज्ञानिक है।

'समस्या नाटक' जैसी अभिव्यंजना, संज्ञा इस क्षेत्र में संभव ही नहीं है। विद्वान हिन्दी अध्यापकों ने, जिन्होंने इस नूतन शब्द की, भाव बोध की सृष्टि की है, संभवतः इसके सूत्र को 'बर्नार्ड शा' की उस उक्ति से प्राप्त की है, जहाँ उसने 'इब्सेन' के नाटकों के बारे में अपना अध्ययन देते हुए सर्वथा एक अन्य प्रसंग से उन्हें 'प्राब्लम प्ले' कहा था! पर क्या इब्सेन के 'घोस्ट', 'डाल्स हाउस' आदि नाटक समस्या नाटक हैं? इन नाटकों में व्याप्त सूक्ष्म काव्यतत्व, व्यक्ति धरातल पर उभरती हुई त्रासदी, चरित्रों की आत्माओं में छिपे अंधकार और प्रकाश, भूत और वर्तमान, पराधीनता और स्वतंत्रता, मृत्यु और मुक्ति के संघर्ष और गहन दर्द को क्या कहियेगा? इसे किस संज्ञा में बाँधा जायेगा?

आधुनिक हिन्दी नाट्य परम्परा में यथार्थ के नाम पर मानवीय समस्या के नाम पर, प्रसंगों में केवल समस्या के बाह्य रूपों को ले लेना और उस समस्या पर वाद विवाद करना, भाषण देना, उपदेश देना और उसे 'प्रभाव',

'इब्सेन' की भी तुलना में स्वयं श्रेष्ठ कहना जितना अर्थहीन है, उससे ज्यादा अर्थहीन है इन नाटकों को 'इब्सेन' 'चेखोव' के प्रसंग में समस्या नाटक कहना।

दरअसल अंतर क्या है, बुनियादी अंतर :

'इब्सेन' 'चेखोव' में समस्या नहीं, प्रश्न है हिन्दी में प्रश्न नहीं केवल समस्या है।

'इब्सेन' 'चेखोव' में प्रश्नों से चरित्र स्वयं जूझते हैं। मिश्र, भट्ट, दास में समस्या से चरित्र उतने नहीं जूझते जितने कि नाटककार सीधे हवा में तलवार घुमाते हैं।

वहाँ प्रश्न भीतर है, समस्या बाहर है। यहाँ केवल समस्या ही समस्या है—भीतर और बाहर दोनों ओर।

वहाँ प्रश्न को रंगमंचीय सन्दर्भ दिया गया है। सब कुछ नाटक के मुहा-विरे के भीतर से व्यक्त किया गया है। यहाँ ठीक उसके उल्टे उसे कथा-त्मक सन्दर्भ में रखा गया है और सब कुछ पाठविधान के अन्तर्गत कथोपकथन, वाद-विवाद, भाषण, उपदेश के भीतर से व्यक्त किया गया है।

वहाँ दृश्य विधान, रंगविधान, नाटक सृष्टि उसकी आन्तरिक गठन, भीतरी रूप, बाह्य कार्य का अन्तरंग, अविभाज्य अंग है। यहाँ दृश्य-विधान, रंगविधान मात्र दिखावे का है। तथाकथित है। नाटक के स्वरूप और व्यक्तित्व से अलग, अप्रयुक्त, निर्जीव। मात्र सजावट का, घटनाक्रम और देश काल परिस्थिति के वर्णन-कथन का साधन।

मिश्रजी इस क्षेत्र के प्रतिनिधि नाटककार माने जाते हैं और निश्चित रूप से हैं। 'संन्यासी', 'राक्षस का मंदिर', 'मुक्ति का रहस्य', 'सिंदूर की होली' और 'आधी रात' उनके नाटक हैं। इन सभी नाटकों में, एक में अनेक समस्याओं को इस तरह मिला देना कि मूल समस्या ही नजर से ओझल हो जाय, यह बड़ी सीमा है इन नाटकों की। दूसरे इन नाटकों में समस्या को विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भों से कहा गया है, उसे नाटक में चरित्रों द्वारा जीने नहीं दिया गया है।

सामान्यतः यह बात मिश्र, सेठ और भट्ट इन तीनों नाटककारों के बारे में कही जा सकती है।

पर अन्तर और उपलब्धि को ओझल नहीं होने देना चाहिए।

मिश्र जी के नाटक अपनी सीमाओं के बावजूद सेठ और भट्ट के नाटकों से सभी स्तरों पर बेहतर, सफलपूर्ण और एक धार, काट, तेवर लिये हुए हैं। इनमें बुद्धिवाद का प्रभावशाली आतंक है, प्रभावशाली अनुभूति चाहे बिलकुल ही न हो। इन्होंने अपने नाटकों से गद्य को निश्चित रूप से मांजा है और उसे नाटकीय अभिव्यक्ति के योग्य बनाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

सेठ जी इस सन्दर्भ में प्रसाद के बाहरी प्रभाव में ही रह जाते हैं। भट्ट जी का स्थान इन दोनों छोरों के बीच में है।

इन सबसे अलग अश्क जी रंगमंच के काफी करीब हैं और उन्होंने 'अंजो दीदी', 'छठा बेटा' आदि नाटकों में रंगमंच के मुहाविरे और यथार्थवादी रूप-बन्ध के भीतर से रचना की है।

पर इतना निश्चित है कि इस यथार्थवादी धारा से (इसे समस्या नाटक कहना सब तरह से अन्यायपूर्ण है—इन नाटककारों के प्रति और स्वयं यह कहने वालों के प्रति) आधुनिक हिन्दी नाटक में यथार्थबोध की व्यापक भूमिका तैयार हुई। नाट्य को यह निर्भीक, बुद्धिवादी मुद्रा प्राप्त हुई, जिसके फल-स्वरूप स्वतन्त्रता के बाद नये नाट्य लेखन को यथासम्भव बल और आधार मिला।

□ □

ों के बावजूद सेठ और भट्ट के नाटकों से
एक धार, काट, शैली लिये हुए हैं । उनमें
भावशाली अनुभूति चाहे बिलकुल ही न
निश्चित रूप से माना है और इस नाट-
हत्वपूर्ण कार्य किया है ।
बाहरी प्रभाव में ही रह जाते हैं । भट्ट जी
है ।
के काफी करीब हैं और उन्होंने 'अंधो
रंगमंच के मुहाविरे और यथार्थवादी रूप-

यथार्थवादी धारा से (इसे समस्या नाटक
इन नाटककारों के प्रति और स्वयं यह
ी नाटक में यथार्थबोध की व्यापक भूमिका
बुद्धिवादी मुद्रा प्राप्त हुई, जिसके फल-
चिन्तन को यथासम्भव बल और आधार

□ □

सांस्कृतिक-नाट्य-धारा

नाटक में किसी देश काल की पूरी सांस्कृतिक-विषयवस्तु बनाकर रचना करने की परम्परा हिन्दी में इतनी बढ़ गयी कि इसे लोग एक स्वतन्त्र धारा मानने लगे । कारण यह है कि स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन जिस भाव-भूमि पर छिड़ा था और जिस तरह महात्मा गांधी उसका नेतृत्व कर रहे थे उसमें भारतवर्ष की राष्ट्रीय भावना को जगाने का एक बहुत बड़ा लक्ष्य था । साथ ही इस स्वतन्त्रता संग्राम में पुराने नैतिक और सामाजिक मूल्य भी बदल रहे थे । तथा व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण का उदय इस काल में आवश्यक था । क्योंकि भारतवर्ष अपने ऐतिहासिक सत्य में विभिन्न जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों तथा विभिन्न राज्यों में बंटा हुआ था । इन सबके बीच एक केन्द्रीय आधार को ढूंढ़ना आवश्यक था । दूसरी ओर भारतीय नारी जो सदियों से परतंत्रता की बेड़ियों में बन्धी थी, उसे भी मुक्त करके बाहर लाना था । क्योंकि गांधी जी के नेतृत्व में एक बड़ी संख्या में नारी समुदाय भी आजादी की लड़ाई में तत्पर था । समस्त वर्गों, जातियों, धर्मों के लोग अपनी-अपनी सांप्रदायिकता छोड़कर राष्ट्रीय धरातल पर आकर आजादी की लड़ाई में आए थे ।

इन सब भावनाओं और सत्यों को चरितार्थ करने के लिए और उसे उचित ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दिशा देने के लिए इस काल के कई नाटक-कारों ने अपनी विशिष्ट नाट्य-रचनायें की । इन रचनाओं का केन्द्रीय उद्देश्य था देश में आंतरिक एकता की स्थापना, जो राष्ट्रीय आंदोलन के लिए परम आवश्यक थी ।

बंगला भाषा में सबसे अधिक इस तरह के नाटकों की रचना द्विजेन्द्रलाल राय ने की । उन्होंने मध्यकाल का इतिहास लेकर भारतीय संस्कृति का विवेचन इसी आंतरिक एकता के उद्देश्य से किया । उनके समस्त नाटकों में सर्वत्र एक ही विषयवस्तु यह मिलता है—द्वेष और देशानुराग का संघर्ष । उनके प्रसिद्ध नाटक 'मेवाड़ पतन' में देश की आंतरिक एकता, प्रतिष्ठा विशुद्ध सांस्कृतिक धरातल से की गयी है ।

सांस्कृतिक-नाट्य-धारा

नाटक में किसी देश काल की पूरी सांस्कृतिक-विषयवस्तु बनाकर रचना करने की परम्परा हिन्दी में इतनी बढ़ गयी कि इसे लोग एक स्वतन्त्र धारा मानने लगे। कारण यह है कि स्वतन्त्रता के पूर्व राष्ट्रीय आन्दोलन जिस भाव-भूमि पर छिड़ा था और जिस तरह महात्मा गांधी उसका नेतृत्व कर रहे थे उसमें भारतवर्ष की राष्ट्रीय भावना को जगाने का एक बहुत बड़ा लक्ष्य था। साथ ही इस स्वतन्त्रता संग्राम में पुराने नैतिक और सामाजिक मूल्य भी बदल रहे थे। तथा व्यापक मानवतावादी दृष्टिकोण का उदय उस काम में आवश्यक था। क्योंकि भारतवर्ष अपने ऐतिहासिक सत्य में विविध जातियों, धर्मों और सम्प्रदायों तथा विभिन्न राज्यों में बंटा हुआ था। इन सबके बीच एक केन्द्रीय आधार को ढूंढ़ना आवश्यक था। दूसरी ओर भारतीय नारी जो सदियों से परतंत्रता की बेड़ियों में बन्धी थी, उसे भी मुक्त करके बाहर लाना था। क्योंकि गांधी जी के नेतृत्व में एक बड़ी संख्या में नारी समुदाय भी आजादी की लड़ाई में तत्पर था। समस्त वर्गों, जातियों, धर्मों के लोग अपनी-अपनी असमानता छोड़कर राष्ट्रीय धरातल पर आकर आजादी की लड़ाई में आए थे।

इन सब भावनाओं और सत्यों को चरितार्थ करने के लिए और उसे उचित ऐतिहासिक और राष्ट्रीय दिशा देने के लिए इस काल के कई नाटक-कारों ने अपनी विशिष्ट नाट्य-रचनायें कीं। इन रचनाओं का केन्द्रीय उद्देश्य था देश में आंतरिक एकता की स्थापना, जो राष्ट्रीय आंदोलन के लिए परम आवश्यक था।

बंगला भाषा में सबसे अधिक इस तरह के नाटकों की रचना द्विजेन्द्रलाल राय ने की। उन्होंने मध्यकाल का इतिहास लेकर भारतीय संस्कृति का विवेचन इसी आंतरिक एकता के उद्देश्य से किया। उनके समस्त नाटकों में सर्वत्र एक ही विषयवस्तु यह मिलता है—द्वेष और देशानुराग का संघर्ष। उनके प्रसिद्ध नाटक 'मेवाड़ पतन' में देश की आंतरिक एकता, प्रतिष्ठा विशुद्ध सांस्कृतिक धरातल से की गयी है।

हिन्दी में इस आंतरिक एकता की स्थापना का सबसे अधिक अनुभव हरिकृष्ण 'प्रेमी', सेठ गोविन्द दास और लक्ष्मीनारायण मिश्र ने किया। इन तीनों नाटककारों ने अपने अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु का चयन इतिहास के पृष्ठों से इस प्रकार किया कि उस काल की सम्मिलित संस्कृति का ऐसा उद्घाटन हो जहाँ यह सिद्ध किया जा सके कि भारतीय संस्कृति समरसता की संस्कृति थी और उसमें राष्ट्रीय चेतना ही प्रमुख थी। हरिकृष्ण 'प्रेमी' ने 'शिवा-साधना' की भूमिका में लिखा है— 'पंजाब में ज्ञान बांसुरी और कर्म का शंख फूंकने वाली बहिन कुमारी लज्जावती ने एक बार मुझसे कहा था कि हमारे भारतीय साहित्य में हिन्दुओं और मुसलमानों को एक-दूसरे से दूर करने वाली पुस्तकें तो बहुत बढ़ रही हैं। उन्हें मिलाने का प्रयत्न बहुत थोड़े साहित्यकार कर रहे हैं। तुम्हें इस दिशा में प्रयत्न करना चाहिए। इसी लक्ष्य को सामने रखकर उन्होंने मुझे ऐतिहासिक नाटक लिखने का आदेश दिया।' इसी तरह प्रेमी के 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना', 'प्रतिशोध', 'स्वप्न-भंग', 'आहुति' आदि में इसी एकता का प्रतिपादन किया गया है। इन नाटकों में उन्होंने यह दृष्टिकोण और भी ज्यादा स्पष्ट किया कि राष्ट्रीय एकता, सांस्कृतिक एकता के बिना संभव नहीं, और सांस्कृतिक एकता तब तक मजबूत नहीं बन सकती, जब तक हिन्दू-मुसलमान, सिख-ईसाई, शूद्र-अछूत एक-दूसरे के धर्म और संस्कृति का रहस्य, उदार दृष्टि से और मानवतावादी ढंग से ग्रहण नहीं करते।

'रक्षा-बन्धन' नाटक में उन्होंने दिखाया है कि स्वर्गीय महाराणा सांगा की पत्नी कर्मवती मुगलों के अन्याय और वैरभाव को किसी तरह भूलकर हुमायूं के साथ भाई-बहिन का रिश्ता कायम करती है।'

'आहुति' नाटक में बादशाह अल्लाउद्दीन रणथम्भौरगढ़ के पास एक ग्राम में युवती पर मुग्ध होकर मीरमाहिम से कहते हैं :

'इस धानी साड़ी वाली लड़की को देखते हो? बोलो, तुम मेरा काम करोगे? उस लड़की से ... '

इस तरह 'प्रेमी' के इस तरह के नाटकों के पात्र कुछ विशिष्ट राष्ट्रीय आदर्शों को अपना जीवन लक्ष्य बनाकर चलते हैं और वे अन्ततः उन आदर्शों के ही प्रतिरूप बन जाते हैं।

सेठ गोविन्द दास का 'शेरशाह' नाटक इसी परंपरा का एक विशिष्ट कृतित्व है। इसमें भी हिन्दू-मुस्लिम एकता और मुसलमानों की राष्ट्रीय चेतना का

अंकन हुआ है। इस नाटक में शेरशाह कहते हैं— 'मैं चाहता हूँ इस मुल्क में हिन्दू-मुसलमान दोनों मिलकर बाहरी कौम का मुकाबला करें।''फिर यह काम यहाँ के सुलतानों और राजाओं पर ही न छोड़ा जाय, बल्कि यहाँ की आम रियाया को भी इस काम में शामिल किया जाय।.....' इस नाटक में कुछ पात्र ऐसे भी हैं जो राष्ट्रीय चेतना से अलग विचार-धारा रखते हैं। उनके सामने 'शेरशाह' का निम्नलिखित संवाद इस सांस्कृतिक दृष्टि को बहुत ही स्पष्टता से रेखांकित करता है—'मैं हूँ हिन्दी, इसी मुल्क में पैदा हुआ, यहीं की आबो-हवा में पला यहीं की मिट्टी से बना और इसी मिट्टी में मिलूँगा। यहाँ से बाहर देखने के लिए मेरे पास कुछ नहीं। हिन्दुस्तान ही मेरे लिए सब कुछ है। यहाँ के रहने वाले चाहे वह किसी भी मजहबी मिल्लत के हों मेरे भाई बिरादर हैं।

'कुलीनता' सेठ जी का दूसरा सांस्कृतिक नाटक है। इसमें ऐतिहासिक राष्ट्रीय धारा बहुत ही उभर कर आयी है। इस नाटक में सेठ जी ने 'कुलीनता' पर अकुलीनता की विजय दिखाई है। गांधी जी सच्चे अनुयायी थे। एक तरह सेठ जी वर्ण की श्रेष्ठता के विश्वासी न होकर कर्म की श्रेष्ठता के विश्वासी हैं। उन्होंने इस नाटक में कुछ सच्चे कर्मयोग का चित्र देना चाहा है। इस नाटक के अंत में सेठ जी ने 'वेणी संहार' का निम्नलिखित श्लोक देकर अपने लक्ष्य की पूर्ति की है—

सूतो वा सूतपुत्रो वा, यो वा को वा भवाम्यहम्
दैवायत्तं कुले जन्म, मदायत्तं तु पौरुषम्।

इस कुलीनता की इस समस्या को राष्ट्रोद्धार की समस्या से सेठ जी ने जोड़ दिया है।

उदयशंकर भट्ट का 'दाहर या सिंध पतन' भी इसी वर्ग में आता है। भट्ट जी का दूसरा नाटक 'विक्रमादित्य' भी इसी धारा का दूसरा उदाहरण है।

मिलिन्द के 'प्रताप प्रतिज्ञा' नाटक में भी राजनीति का यही रंग दिखाई पड़ता है।

इसके अंतर्गत बेचन शर्मा उग्र का 'ईसा' और सियारामशरण गुप्त का 'पुण्य-पर्व' भी उल्लेखनीय है। लक्ष्मीनारायण मिश्र, उदयशंकर भट्ट और वृन्दावन लाल वर्मा ने और भी कई सांस्कृतिक नाटकों की रचनायें की हैं। इनमें 'गरुड़ध्वज', 'नारद की वीणा', 'दशाश्वमेध', 'वत्सराज', 'वितस्ता की लहरें', 'शकविजय', 'हंसमयूर' प्रसिद्ध हैं।

इतिहास-प्रसिद्ध जैन-गुरु कालकाचार्य की जीवन-घटना को लेकर कई नाटक लिखे गये, जिनमें तीन प्रमुख नाट्यकारों की रचनाएँ प्रसिद्ध हैं—उदय-शंकर भट्ट का 'शक विजय' (वि० २००१), वृन्दावनलाल वर्मा का 'हंसमयूर' और लक्ष्मीनारायण मिश्र का 'गरुड़ध्वज' (संवत् २००५ वि०) तीनों नाट्यकारों ने इतिहास ग्रन्थों के आधार पर भिन्न-भिन्न रूप में इस जैन-गुरु का चरित्र-चित्रण किया है।

मिश्र जी के 'नारद की वीणा' में यह संवेदना ली गयी है कि सभ्यता और संस्कृति सदा असभ्यों और अर्धसंस्कृत वर्गों के हाथों परास्त होती है। इसी तरह मिश्र जी ने 'दशाश्वमेध' नाटक में आर्य संस्कृति को बड़ी मौलिकता से प्रकट करना चाहा है। इसी तरह 'वितस्ता की लहरें', 'अशोक', 'प्रतिज्ञा भंग क्यों' इन नाटकों में भी मिश्र जी ने भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन का चित्र जयशंकर प्रसाद से बिल्कुल अलग हटकर देना चाहा है। इस सन्दर्भ में डा० ओझा की पुस्तक हिन्दी नाटक, उद्भव और विकास का निम्न-लिखित उद्धरण बड़ा दिलचस्प है:—

मिश्र जी ने अपने प्रथम समस्या-नाटक 'संन्यासी' की भूमिका में यह कहा था कि 'इतिहास के गड़े मुर्दे उखाड़ने का काम इस युग के साहित्य में वांछनीय नहीं, पर अपनी इस प्रतिज्ञा के विरुद्ध जो उन्होंने इतने ऐतिहासिक और सांस्कृतिक नाटकों की रचना कर डाली, इसका कोई न कोई कारण अवश्य रहा होगा। इस सम्बन्ध में वार्तालाप करने पर उन्होंने बताया कि 'प्रसाद के नाटकों की प्रतिक्रिया से मुझे अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी।' उनका कथन है कि 'प्रसाद के नाटकों से भारतीय संस्कृति और जातीय जीवन-दर्शन की जो हानि मुझे दिखाई पड़ी, उससे भावी पीढ़ी के पथ भ्रष्ट होने की आशंका मेरे भीतर उपजने लगी, उसके निराकरण के लिए मुझे ऐसे नाटक रचने पड़े, जिन में हमारी संस्कृति और जीवन-दर्शन का वह सत्य झलक उठे जो कालिदास और भास के नाटकों में पहले ही निरूपित है।

मिश्र जी का मत है कि प्रसाद के नाटकों में रंगमंच पर जो आत्महत्याएँ करायी जाती हैं, संवाद में जो अस्वाभाविकता पायी जाती है, प्रेम की अभि-व्यक्ति में जो लम्बे भाषण कराए जाते हैं, कौमार्य को विवाह से जो श्रेष्ठ माना जाता है, कल्पना में जो उन्माद भरा जाता है, वह भारतीय नाट्य-पद्धति के विरुद्ध है। इसी कारण वे अपने नाटकों में आत्महत्या, काव्यमय संवाद, प्रेमिकाओं के लम्बे भाषण और कौमार्य-महत्त्व एवं कल्पना में अतिरंजन को स्थान

नहीं देते। अब समय आ गया है कि मिश्रजी के विचारों की समीक्षा की जाए और इस बात का निर्णय किया जाए कि देश और जाति के हित के लिये उनकी ये गर्वोक्तियाँ कहाँ तक उपयुक्त हैं।

वृन्दावनलाल वर्मा ने 'हंसमयूर' नाटक में भारतीय-संस्कृति को 'हंसमयूर' की उपाधि दी है। इस नाटक के नायक इन्द्रसेन ने इसका आशय बताया है कि 'हंस बुद्धि, विवेक, प्रज्ञा, मेधा, भक्ति और संस्कृति का प्रतीक है,। 'मयूर' तेज, बल और पराक्रम का। दोनों का समन्वय ही आर्य संस्कृति है।

'पूर्व की ओर' वर्माजी का दूसरा सांस्कृतिक नाटक है, जहाँ उन्होंने जातक कथाओं, पूर्वी द्वीपों में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्रियों के आधार पर भारत तथा द्वीप का अति प्राचीन सम्बन्ध सिद्ध किया है।

इस सिलसिले में उदयशंकर भट्ट के 'सक विजय' का उल्लेख करना आवश्यक है। इस नाटक में भी उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा है कि—'आज देश धर्म से भी महान है, व्यक्ति और समाज में भी बृहत्तर है। इस भावना को जागृत करने की आवश्यकता है' देश की स्वतन्त्रता उसका मुख सर्वोपरि है; इस प्रकार के विचारों के प्रचार में जो मानसिक असंतुलन उत्पन्न होते हैं उनमें हमें किसको स्वीकार करना चाहिये और किसको अस्वीकार; इत्यादि बातों को पाठकों तथा सर्वसाधारण के सामने रखने के हेतु-स्वरूप मेरा यह क्षुद्र प्रयत्न है।' आगे चलकर सेठ गोविन्द दास का 'चाणक्य गुप्त' भी अतीत की कथा के सहारे राष्ट्रीय भावना और केन्द्रीय शासकों की व्यवस्था को ही व्यक्त करता है।

स्वतन्त्रता के बाद के इस तरह के नाटकों में जगदीशचन्द्र माथुर का 'कोणार्क' एक नया उदाहरण है। यह नाटक पहली बार रंगमंच को ध्यान में रखकर लिखा गया है और इसमें जनता की उस शक्ति को उभारा गया है जो राजाओं की भाग्य-विधायिका है।

सांस्कृतिक धारा के इस तरह के नाटकों का अध्ययन यदि रंगमंच के आधार पर किया जाय तो हम पाते हैं कि इन नाटकों की रचना रंगमंच को ध्यान में रख कर नहीं की गयी है। ये नाटक शुद्ध रूप से पठन-पाठन के उद्देश्य से लिखे गये थे। इन्हीं नाटकों में इतनी अधिक पाठ्य-सामग्री है कि इसका बोझ न अभिनेता उठा सकता है और न निर्देशक। एक तरह से ये नाटक एक विशिष्ट सांस्कृतिक सामग्री को किसी तरह पाठक के सामने रखा जाय, यही इन नाटकों के मुख उद्देश्य में था। इस उद्देश्य में ये नाटक सफल हैं। इनसे भारतीय संस्कृति पर काफी प्रकाश पड़ा है तथा कालेज और विश्वविद्यालय के छात्रों तथा अध्यापकों को पठन-पाठन का उचित अवसर मिला है।

□ □

गीति नाट्य की परम्परा

◆

प्रस्तुत अध्ययन के समानान्तर हिन्दी नाट्य की एक विशेष धारा और रही है; जिसे हम हिन्दी में गीतिनाट्य अथवा काव्य-रूपक कहते हैं। इस क्षेत्र में बहुत बड़ी संख्या में नाट्य-कृतियाँ लिखी गई हैं और उनका प्रचार और प्रसार भी हुआ है। इस रूप में इतना अधिक क्यों लिखा गया है शायद यह हमारी परंपरा के काफी अनुकूल था।

हिन्दी में इस नाट्य-परंपरा का श्रीगणेश हम प्रसाद के 'करुणालय' से पाते हैं। 'करुणालय' से लेकर आज तक इस क्षेत्र में मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, हरिकृष्ण प्रेमी, उदयशंकर भट्ट, सुमित्रानन्दन पंत, रामधारी सिंह दिनकर और धर्मवीर भारती तक अनेक नाट्यकारों को हम पाते हैं। इन सब की गीतिनाट्य कृतियों को देख कर और अनुभव कर जो विशेष बात इस प्रसंग में सामने आती है यह यह कि इसमें बाहरी क्रिया-कौशल और संघर्ष के स्थान पर मानसिक स्थितियों के दृश्य ज्यादा अभिव्यक्त होते हैं। रंगमंच में काव्य-तत्व अनिवार्य है और यह काव्य-तत्व पश्चिम के नाटकों में नाटकों के यथार्थ के माध्यम से प्रकट हुआ है। उसमें गीति अथवा काव्य-तत्व बाहर से आरोपित नहीं किया गया है। लेकिन हिन्दी में रंगमंच का यह स्वरूप प्रसाद से लेकर आज तक उस व्यापी रूप में नहीं विकसित हो सका है। शायद इसलिए भी हिन्दी के गीति-नाट्यकारों ने प्रत्यक्ष रूप से काव्य का सहारा लिया है।

प्रसाद के 'करुणालय' में एक पौराणिक कथा ली गयी है। जहाँ आकाशवाणी सुनकर राजा हरिश्चन्द्र अपने पुत्र रोहित को यज्ञ में बलि देना चाहते हैं। इस पर रोहित सोचता है :

> 'अहा स्वच्छ नभ नील, अरुण रवि रश्मि की
> सुन्दर माला पहन, मनोहर रूप में,
> नव प्रभात का दृश्य सुखद है सामने,
> उसे बदलता नील तमिस्रा राशि से,

जिसमें तारा का भी कुछ न प्रकाश है
कैसा दुःखदायक है..............'

रोहित इस गीति-नाट्य में विविध स्थानों और भाव स्थितियों से गुजरता है और इस तरह से प्रसाद की भावनाओं के विविध संघर्ष को दिखाने की स्थिति पाते हैं। साथ ही प्रसाद जी अपनी काव्य-धारा को भी इस नाट्य में जगह-जगह स्थान देते हैं। इसलिए उन्होंने जान-बूझकर ऐसी स्थितियों का निर्माण किया है जहाँ वह मनुष्य की भावनाओं और भाव-प्रतिभाओं को प्रकट कर सकें। उनका यह गीतिनाट्य वास्तव में उनकी काव्य-धारा का ही एक उदाहरण है।

'प्रसाद' के समकालीन मैथिलीशरण गुप्त का 'अनघ', सियारामशरण गुप्त का 'उन्मुक्त', हरिकृष्ण 'प्रेमी' का 'स्वर्णविहान' और उदयशंकर भट्ट के अनेक नाट्य इसी शैली क्रम में आते हैं।

गुप्तजी ने अपने गीतिनाट्य 'अनघ' को दृश्यों में न विभाजित कर शीर्षकों में विभाजित किया है। जैसे—अरण्य, चौपाल, उद्यान, वटच्छाया, मघ का घर, चबूतरा, ग्राम भोजक का घर, मधुवन, मुखिया और चौपाल उद्यान का एक भाग, एकान्त, मेंड़, दण्ड-गृह, कारागार, मगध राजधानी और न्याय-सभा।

इस गीतिनाट्य में भी वही मानसिक संघर्ष का चित्र है लेकिन प्रसाद के 'अनघ' में एक अंतर है। प्रसाद ने जहाँ मानव अनुभूतियों पर बल दिया है वहाँ 'अनघ' में अपेक्षाकृत जीवन सिद्धान्तों पर बल दिया गया है। जैसे :

'पर क्या यह झूठी रटना है,
इति भीति देवी घटना है।
उसका वैसा ही कटना है,
जिसका जैसा बोना है।
विषम विश्व का कोना है।'

सियारामशरण गुप्त ने अपने गीति-नाट्य 'उन्मुक्त' की रचना बिल्कुल 'अनघ' के ही अनुसार की है। इसमें भी दृश्य के स्थान पर शीर्षकों का ही उल्लेख मिलता है जैसे—शयन-कक्ष शुश्रूषालय, संचालन, शिविर इत्यादि। इसमें रंगमंच के संकेत भी 'अनघ' के सदृश मिलते हैं। यह नाटक भी गीति-नाट्य की दृष्टि से सफल नाटक कहा जा सकता है।

वस्तुतः गीति-नाट्य का यह काल वह काल है जब गाँधी जी के नेतृत्व में सारा देश आज़ादी की लड़ाई लड़ रहा था। इसलिए इस काल के तमाम गीति-नाट्यों में गाँधी के व्यक्तित्व की अजब छाप है। प्रायः सभी गीति-नाट्यों के अहिंसा, प्रेम, बलिदान, त्याग आदि तत्वों पर अधिक बल दिया गया है और उन्हीं तत्वों का भावोच्छ्वास प्रायः नाट्यों में मिलते हैं। हरिकृष्ण प्रेमी का गीतिनाट्य 'स्वर्णविहान' इसका सुन्दर उदाहरण है। इसमें अहिंसा के द्वारा हिंसा पर विजय दिखायी गयी है। प्रेम की महत्ता जगह-जगह इस गीतिनाट्य में प्रकट है। यह भी ध्यान देने की बात है कि भावों की अभिव्यक्ति में छायावादी काव्यधारा का अधिकाधिक प्रभाव है। उदाहरण के लिए 'स्वर्णविहान' की निम्नलिखित पंक्तियाँ :

> 'जाने कब, किस ओर बैठकर, प्रेम छोड़ता अपने बाण
> जाने कब, कैसे छिद जाती किसी अपरिचित की मुस्कान।
> जाने कब किसकी वीणा का गूँज मधुरतम मादक गान
> अन्तर के हृदय छू छू कर पागल कर देता है प्राण।'

आगे चलकर जिस व्यक्ति ने सबसे अधिक गीतिनाट्य लिखे हैं और जो इस प्रसंग में अपेक्षाकृत सफल हैं वह हैं नाटककार उदयशंकर भट्ट। इन्होंने मंच और रेडियो दोनों को ध्यान में रखकर गीतिनाट्य की रचना की है और अनेक गीतिनाट्य ऐसे हैं जो रेडियो के लिए बहुत ही उपयुक्त या उपयुक्त हैं। इनके कुछ प्रसिद्ध गीतिनाट्य हैं—१. 'कालिदास', २. 'मत्स्यगन्धा', ३. 'विश्वामित्र' और 'राधा'।

'मत्स्यगन्धा' में उन्होंने अतुकांत छन्दों का इस्तेमाल किया है और साथ ही कुछ संवादों की रचना उन्होंने इस प्रकार की है कि वे नाटक के संवाद लगते हैं। इस तरह 'मत्स्यगन्धा' में अतुकांत छन्द कथोपकथनात्मक गद्य और गीतों को संवादित रूप से इस्तेमाल किया है और परिणाम यह हुआ कि 'मत्स्यगन्धा' में रोचकता और विविधता दोनों है, किन्तु विचारधारा और भावना की दृष्टि से इसमें भी मानव-सिद्धान्त और मानवमूल्यों पर अधिक बल दिया गया है। नारी क्या है? इसका ज्ञान करने के लिए इन्होंने मेनका के मुँह से कहलवाया है :

'नारी प्राण विहीन चेतना से रहित,
एक भावना पुंज पराई आस है।
वह साधन है जग में मानव-सौख्य की,
मुख होता है स्वयं, अपर का सुख सदा।
वह विलास स्वच्छन्द पुरुष के प्राण की,
मदिरा जिसको स्वयं नशा होता नहीं।'

इस क्रम में 'राधा' एक नये प्रकार का गीतिनाट्य है क्योंकि यह भाव नाट्य के ज्यादा समीप है। साथ ही इसकी नवीनता यह है कि यह सम्पूर्ण गीतिनाट्य सरस गीतों से निर्मित है। उनके गीत-तत्वों के उदाहरण निम्नलिखित हैं—जहाँ 'राधा' विशाखा, कृष्ण प्रेम में आत्मविभोर हैं और परस्पर गीतों में वार्तालाप कर रही हैं। राधा कह रही हैं :

'क्या हुआ मैं मग्न थी अपनी लहर में
पर न जाने दृष्टिपथ में आ गए वे क्या कहूँ री।
मन्त्र-कीलित से हुए उत्कीर्ण से मेरे हृदय में।
क्या करूँ, कैसे करूँ, सब कुछ हुआ विपरीत जीवन,
कूप पर जाती कलश ले नीर लेने हेतु जब मैं
फेर से जाते मुझे अनजान में यमुना नदी तट।
क्या तुझे कुछ भी न होता, यह मुझे क्या हो गया है।'

''क्या कहूँ किससे सखी, मैं भूल सारे नियम बन्धन,
छोड़ जग व्यवहार 'लज्जा' मूकसी से हृदय विह्वल
रात दिन, संध्या सबेरे, दुपहरी इस कुंज वन में।
गूंजती है कान में ध्वनि, प्रतिक्षण वह रूप, वह छवि
नैन में सब खो गया है, हो गया है कृष्णमय जग।''

आगे चलकर इस गीतिनाट्य परम्परा में और भी अधिक महत्वपूर्ण कवियों का योगदान मिलता है। जैसे :

(१) सुमित्रानन्दन पन्त
(२) रामधारी सिंह 'दिनकर'
(३) भगवतीचरण वर्मा
(४) निराला
(५) गिरजाकुमार माथुर
(६) भारती प्रसाद सिंह
(७) धर्मवीर भारती

इस प्रसंग में सबसे अधिक काव्य-रूपकों की रचना पन्त जी ने की है। उनके सभी काव्यरूपक इस विधा में अत्यन्त उल्लेखनीय हैं– (१) रजतशिखर, (२) फूलों का देश, (३) उत्तरशती, (४) शुभ्र पुरुष, (५) विद्युत-वसना, (६) शरद् चेतना, (७) शिल्पी, (८) ध्वंसशेष, (९) अप्सरा और भगवती-चरण वर्मा के तीन नाटक—(१) कर्ण, (२) महाकाल, (३) द्रौपदी प्रसिद्ध हैं।

दिनकर का पहला काव्यरूपक 'मगध महिमा' है और उनका नवीनतम और श्रेष्ठतम काव्यरूपक है —'उर्वशी'। भगवतीचरण वर्मा के भी तीन काव्य-रूपक हैं : (१) कर्ण, (२) महाकाल, (३) द्रौपदी। इसी क्रम में सिद्धनाथ कुमार के भी कई लघु काव्य रूपक हैं; जैसे –'कवि' 'सृष्टि की सांझ', लौह देवता, 'संघर्ष', 'विकलांगों का देश' और 'बादलों का शाप'। निराला जी के काव्यरूपक 'पंचवटी प्रसंग' और गिरिजा कुमार का 'इंदुमती' और आरसी प्रसाद सिंह का 'मधूलिका', 'धूप छांह'।

दिनकर जी की 'मगध महिमा' में मगध के अतीत वैभव का बड़ा व्यापक चित्रण है। उन्होंने समूचे रूपक में बुद्ध, सुजाता, अशोक आदि चरित्रों की भावानुभूतियां व्यक्त की हैं।

पन्त जी के काव्यरूपक मे 'रजत शिखर' से लेकर 'अप्सरा' तक मनुष्य की नव संस्कृति का विषय चरितार्थ हुआ है। यहाँ पन्त जी आधुनिक युग के विस्थापित मानव को पुनः आनन्द में और सुख में स्थापित करना चाहते हैं। 'रजत शिखर' में एक युवक और युवती का चरित्र उभर कर आता है जहाँ कवि मनोवैज्ञानिक बनकर उनकी स्थितियों का विश्लेषण करता है :

प्रणयदान तुम इन्हें नहीं दे सकीं; कदाचित
हृदय समर्पण करना तुमको इष्ट नहीं था,
इसमें इनका दोष नहीं है : अवचेतन की
प्रबल शक्ति से ये सतत अनभिज्ञ रहे हैं।

अन्त में पन्त जी जिस नव संस्कृति का निर्माण करते हैं, उसके चित्र हमें नीचे की पंक्तियों में मिलते हैं :

भ्रातृ-भावना, विश्व प्रेम से भी गंभीरतम
प्रीति-पाश में बांधे हम नव मानवता को
जिसका दृढ़ आधार एकता हो आत्मा की,
जिसकी शाश्वत नींव चेतना की उज्ज्वलता

मनुज प्रेम के लिए मात्र हो मनुज प्रेम वह,
जग को नव संस्कृति का स्वर्णिम द्वार दिखाएँ,
आओ हम नव मानव का घर द्वार बसाएँ।

'फूलों का देश' नामक काव्यरूपक में उन्होंने अध्यात्मवाद, भौतिकवाद तथा वस्तुवाद सम्बन्धी संघर्ष की अभिव्यक्ति देकर उनमें व्यापक समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। उन्होंने कहा है :

फिर से बहिरन्तर संयोजित होगा मानव,
पुनः ज्ञान-विज्ञान समन्वित होगा जीवन।
व्यक्ति-समाज परस्पर अन्योन्याश्रित होकर
बढ़ते जाएँगे विकास के स्वर्णिम पथ पर।
बहिर्जगत् के शिखर ज्वार पर आरोहण कर
नव्य चेतना उतरेगी किरणों से मंडित,
सत्य अहिंसा होंगे भावों के पथदर्शक,
विचरेंगे मानवसुर फूलों के प्रदेश में
नव संस्कृति की श्री-शोभा सौरभ से पोषित।

'शुभ्र पुरुष' में गांधी जी के व्यक्तित्व का 'विद्युत-वसना' में स्वाधीनता की चेतना का रूपक है। जिसमें उन्होंने यह संदेश दिया है कि स्वतंत्रता की उपयोगिता लोक-एकता और विश्व मानवता के निर्माण में ही चरितार्थ हो सकती है।

'शरद चेतना' में पन्त जी ने 'हेमन्त', 'शिशिर', 'वसंत' आदि ऋतुओं से 'शरद' ऋतु का अभिवादन किया है और अन्त में उन्होंने वंदना की है।

बरसाओ हे नव श्री शोभा
हो स्वप्नों से स्मित भू आँगन
लहरों में झलके रजत व्योम
फूलों की पलकों में हिमकण
+ + +
बरसो भू मानव के प्रतीक,
चेतना विकसे हो नव भुवन।

'शिल्पी' काव्य-रूपक में पन्त जी नाट्य-तत्व के अधिक करीब आये हैं। यहाँ उन्होंने तीन विविध दृश्यों में 'शिल्पी' के व्यक्तित्व के माध्यम

से नवनिर्माण की चेतना प्रकट की है। इसी तरह 'अप्सरा' रूपक में पन्त जी ने संगीतज्ञ और अभिनेताओं को ध्यान में रख कर इस कृति की रचना की है।

इस क्रम में दिनकर का गीतिनाट्य 'उर्वशी' स्वतंत्रता बाद के काव्य-रूपकों में अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसका समुचित ढाँचा काव्य-रूपक का है। इसमें पाँच अंक हैं। प्रथम दो अंकों में अत्यधिक ललित-छन्द का प्रयोग किया है और अन्त्यानुप्रास का आनन्द उभर कर आया है। शेष अंकों में उनकी कवि गरिमा उभर कर आई है। इसके प्रथम अंकों का आरम्भ नटी और सूत्रधार के वार्तालाप से होता है। आगे अप्सराएँ स्वर्ग और भारत की तुलना करती हुई दिखाई देती हैं और देवताओं तथा मनुष्यों का मिलान करती हैं और यहीं पुरूरवा और उर्वशी का पूर्वराग प्रकट होता है। दूसरे अंक में पुरूरवा उर्वशी को साथ लेकर गंधमादन पर्वत पर चला जाता है और इसी क्रम में दिनकर जी यह दिखाते हैं कि पुरुष का नारी विषयक अनुराग कैसा होता है :

> पुरुष सदा आक्रान्त विचरता मादक प्रणय-क्षुधा से,
> जय से उसको तृप्ति नहीं, सन्तोष न कीर्ति-सुधा से।
> असफलता में उसे जननि का वक्ष याद आता है,
> संकट में युवती का शैया-कक्ष याद आता है।

तृतीय अंक में पुरूरवा-उर्वशी का गन्धमादन-विहार वर्णित है और इस वर्णन में प्रेम रस की जो अनुभूति दिनकर जी ने व्यक्त की है वह अत्यधिक मार्मिक है।

चौथे अंक में उर्वशी का मातृत्व रूप दिखलाया गया है और पाँचवाँ अंक पुरूरवा के स्वप्न-वर्णन से शुरू होकर पुरूरवा की आत्मानुभूति में समाप्त हो जाता है। इस दृश्य योजना में दिनकर जी ने उर्वशी का जो चित्र हिन्दी-साहित्य को दिया है वह जितना गरिमामय है उतना ही अर्थवान है। इसमें उन्होंने नारी सौन्दर्य लिया है, पुरुष प्रेम लिया है और नारी भीतर मातृत्व और पत्नीत्व का संघर्ष लिया है।

इस क्रम में धर्मवीर भारती का 'अंधायुग' भी अत्यधिक उल्लेखनीय है। यह कई दृष्टियों से हिन्दी गीतिनाट्य परम्परा में नया उदाहरण है। इसमें पहली बार रंगमंच का व्यावहारिक और व्यापक गहन उपयोग हुआ है।

यह नाटक अभी रेडियो और मंच दोनों पर बड़ी सफलता से प्रस्तुत किया गया है। यह रूपक पाँच अंकों में विभाजित है। इसमें जिस पौराणिक कथा का आधार बनाया गया है, उसमें एक नये प्रकार की आधुनिकता है। अभी तक गीति नाट्यों में या तो तुकान्त छंदों का प्रयोग होता था या अतुकान्त छंदों का। किन्तु भारती ने 'अंधायुग' में पहली बार विशुद्ध मुक्त छंदों का व्यवहार किया जिसके कारण यह रंगमंच और भावाभिव्यक्ति दोनों में अधिक सफल हो सका है।

'अंधायुग' में पहले की अपेक्षा एक विस्तृत कथावस्तु ग्रहण की गयी है। जो महाभारत की प्रख्यात कथा है। लेकिन इस कथा का इस्तेमाल भारती ने द्वितीय महायुद्ध के बाद उपजी हुई मानवकुण्ठा और उसके संत्रास को प्रकट करती है। 'अंधायुग' की कथा के सहारे नाटककार ने युद्धजन्य अर्द्धसत्यों, कुंठाओं आदि का उद्घाटन किया है। इन्हीं के बीच उगती हुई नयी मर्यादा नयी आस्था को प्रकट किया है।

कृष्ण ने जो व्याध से कहा है वह वास्तव में आज के मनुष्य से नाटककार ने कहा है :

लेकिन शेष मेरा दायित्व लेंगे
बाकी सभी
मेरा दायित्व वह स्थित रहेगा
हर मानव-मन के उस वृत्त में
जिसके सहारे वह
सभी परिस्थितियों का अतिक्रमण करते हुए
नूतन निर्माण करेगा पिछले ध्वंसों पर
मर्यादायुक्त आचरण में
नित नूतन सृजन में
निर्भयता के
साहस के
ममता के
रस के
क्षण में
जीवित और सक्रिय हो उठूँगा मैं बार-बार।

□ □

एकांकी और यथार्थवादी नाट्य धारा

यथार्थवादी धारा के बारे में सोचते ही हमारा ध्यान हिन्दी के एकांकी नाटकों पर जाता है। एकांकी नाट्य-लेखन हिन्दी रंगमंच और उसके नाटक की बहु बुनियाद है, जहां वास्तव में रंगमंच की मांग के लिए लघु नाटकों की सृष्टि हुई है। इसके विकास क्रम में भुवनेश्वर, रामकुमार, सेठ गोविन्द दास, उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीशचन्द्र माथुर, उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, सीताकृष्ण बेनीपुरी, सद्गुरुशरण अवस्थी और हरिकृष्ण प्रेमी आदि के नाम सामने आते हैं। इन नामों में विशेषकर भुवनेश्वर, रामकुमार वर्मा, अश्क, विष्णुप्रभाकर, जगदीशचन्द्र माथुर के नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। विश्व-विद्यालयों में नाट्य दलों की प्रतिष्ठा विभिन्न कालेजों और छोटे-छोटे कस्बों की अव्यावसायिक नाट्य दलों की मांग की पूर्ति के लिए हिन्दी में बहुत बड़ी संख्या में एकांकी नाटकों की रचना हुई। इसके भीतर से दो तरह के लघु नाटक सामने आये। पहली कोटि में ऐसे सामाजिक यथार्थवादी नाटक आते हैं, जिसमें समाज के भीतर से, समाज की धारा से आधुनिक मनुष्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन किया गया है। दूसरी कोटि में वे लघु नाटक आते हैं जहां इतिहास और पुराण की कथावस्तुओं के माध्यम से एक रोमांटिक धारा उभर कर सामने आती है। इन दोनों कोटियों में जो सामाजिक यथार्थवादी धारा थी उसमें अपेक्षाकृत रंगमंच की व्यावहारिक मांग ज्यादा प्रखर रूप से है। पर इन दोनों कोटियों के लघु नाटकों में विषयवस्तु की दृष्टि से विस्तार और विविधता आयी और नाटकीय अनुभूति पहले से कहीं ज्यादा अधिक गहन हुई इसके साथ ही यह भी देखने में आया कि नाट्य रचना का शिल्प भी अधिक प्रौढ़ हुआ और अनेक रोचक शिल्पगत प्रयोग हुए। पर दूसरी ओर इस समय का एकांकी साहित्य कालेजों और पाठ्यपुस्तकों की मांग की पूर्ति के लिए भी रचा जाने लगा। फिर भी इस अवधि में लघु नाटकों के नाम पर यथार्थवादी धारा ज्यादा प्रखर हुई।

इसका सबसे ज्यादा प्रमाण है १९३० और ४० के बीच लिखे गये भुवनेश्वर और रामकुमार वर्मा के अनेक लघु नाटक। भुवनेश्वर के कई एकांकी जो उस समय की पत्र-पत्रिकाओं में छपे और उस समय के नाट्य दलों द्वारा खेले गये, उनमें प्रसिद्ध नाटक हैं– 'तांबे के कीड़े', 'कारवाँ', 'स्ट्राइक' और 'ऊसर'। स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों की यथार्थवादी स्थितियों को लेकर भुवनेश्वर के ये नाटक बड़े ही सशक्त सिद्ध हुए। उनके संवादों में तीव्र नाटकीयता के साथ ही साथ संवादों की एक नयी भाषा-शैली सामने आई। दूसरी ओर रामकुमार वर्मा के 'रेशमी टाई' एकांकी संग्रह में से कई ऐसे प्रौढ़ एकांकी सामने आए जिनका रंगमंचीय पक्ष अत्यन्त प्रबल था। इन दोनों नाट्यकारों की वस्तुयोजना और रंगशैली में से एक ओर आधुनिक मानव संवेदनाओं को अभिव्यक्ति मिली और दूसरी ओर उनके लघु नाटकों से शौकिया रंगमंच को गति मिली। औद्योगिकीकरण से उस समय जो एक नया तनाव और संघर्ष तथा विषमताएँ समाज में आई थीं उन सबका चित्रण इन नाटककारों की कृतियों में हुआ। दूसरी ओर उपेन्द्रनाथ अश्क के एकांकी उस काल के मानव चरित्रों और स्वभावों के प्रहसनात्मक दस्तावेज हैं। जगदीशचन्द्र माथुर का उस काल का एकांकी नाटक संग्रह है 'भोर का तारा'।

दूसरी ओर इस काल में उपेन्द्रनाथ अश्क, गोविन्दवल्लभ पंत, विष्णु प्रभाकर, लक्ष्मीनारायण मिश्र, सेठ गोविन्द दास और उदयशंकर भट्ट आदि नाटककारों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम के परिवेश में और उसी के आदर्शों की मांग के लिये अनेक नाटक लिखे हैं। इन नाटकों में उदयशंकर भट्ट के 'दाहर या सिंध पतन', अश्क का 'जय पराजय', गोविन्द वल्लभ पंत का 'राजमुकुट' आदि नाटक उल्लेखनीय हैं।

स्वतंत्रता से पूर्व यह वह काल है जहाँ से हिन्दी के सामाजिक नाटकों की यथार्थवादी धारा की शुरुआत हो रही थी और हिन्दी नाटक असली अर्थों में आधुनिक नाटक बनने की दिशा में संघर्षशील लग रहा था। यही कारण है कि स्वतंत्रता से पूर्व प्रायः सभी सामाजिक नाट्य-कृतियों में कई तरह के विरोधाभास सामने उभर रहे थे। पहला विरोधाभास यह कि इस काल की नाट्य-कृतियों में जयशंकर प्रसाद, लक्ष्मीनारायण मिश्र की प्रतिक्रिया

में और उनसे दूर हटकर, फिर भी उसी तरह के रंगमंच से चिपके रहने की सच्चाई। दूसरा विरोधाभास यह कि इस काल के नाटक ऊपरी तौर पर तो सामाजिक आवश्यकता का परिचय देते हैं लेकिन उनके कलात्मक अभिप्राय प्रायः भावनात्मक होते थे। और सबसे बड़ा विरोधाभास कि यह इन सामाजिक नाटकों में व्यावहारिक रंगमंच का स्वरूप अत्यन्त अस्पष्ट और अव्यावहारिक होता था।

□ □

ी तरह के रंगमंच से चिपके रहने
ु काल के नाटक ऊपरी तौर पर
लेकिन उनके कलात्मक अभिप्राय
ड़ा विरोधाभास कि यह इस
ि का स्वरूप अत्यन्त अस्पष्ट और

□ □

हिंदी एकांकी का स्वरूप और विकास

ऐतिहासिक दृष्टि से हिन्दी में एकांकी का विकास कहानी से बहुत बाद में हुआ—अर्थात् प्रथम महायुद्ध के भी उपरान्त; जिस समय भारतीय जीवन में एक अद्भुत तनाव आ चुका था।

राजनीतिक क्षेत्र में स्वतंत्रता-संग्राम की गति बहुत व्यापक और गहरी हो चुकी थी, अर्थात् राष्ट्रीय संग्राम दर्शन बनकर जीवन में उतर चुका था। दूसरी ओर अंग्रेजों की दमन-नीति उग्र से उग्रतर हो चली थी। शासक की अर्थ-नीति और शासन-नीति में नये-नये दांव-पेंच लागू हो चुके थे। मध्य-कालीन सामन्तीय व्यवस्था के उपरान्त भारतीय पूँजीवादी व्यवस्था बड़ी तेजी से उभर रही थी। फलस्वरूप विशुद्ध भौतिक धरातल पर द्वन्द्वात्मक सत्य का जन्म होने लगा था। समूचा जीवन, अपने नैतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सौन्दर्य-बोध के आयामों में बिल्कुल एक परिवर्तित परिस्थितियों से टकराने लगा था। वस्तुतः इस टकराहट में पाश्चात्य जीवनदर्शन और भारतीय दृष्टिकोण तथा सांस्कृतिक विचारधारा कार्य कर रही थी, और इस प्रक्रिया में जो नया उन्मेष तत्कालीन समाज को मिल रहा था, उसका स्वर और स्तर उस स्वर और स्तर से अपेक्षाकृत अधिक सघन, उग्र और गहरा था जो हिन्दी कहानियों के जन्म अथवा आविर्भाव-काल के समाज में व्याप्त था।

इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रभाव आविर्भाव-काल से ही हिन्दी एकांकी पर यह पड़ा कि इसका स्वरूप नितान्त मौलिक और इसका स्वरूप अत्यन्त यथार्थवादी रहा। जीवन का जैसा तनाव; जितना द्वन्द्व इस माध्यम से अभिव्यक्त हुआ, वह अपने आप में अपूर्व था, नितान्त मौलिक। शिल्प-विधि निस्सन्देह पश्चिम से ग्रहण की गयी, लेकिन जिस साहित्यिक परम्परा, जिन सहज शक्तियों से हिन्दी एकांकी को उपलब्धि हुई वे विशुद्ध रूप से स्वजातीय हैं, इसके सारे संस्कार अपने हैं, सारे स्वर अपने हैं।

इस दृष्टि से हिन्दी एकांकी के स्वरूप में अपनी मौलिकता और सहज विकास की छाप आदि से ही है। इस तथ्य के आकलन के लिए हमें, हिन्दी के सर्वप्रथम एकांकी 'एक घूँट' से पूर्व की नाट्य-स्थितियों को देखना होगा। अर्थात् इससे पहले भारतेन्दु, प्रसाद, आदि द्वारा लिखे गये सम्पूर्ण नाटक तथा उस काल के रंगमंच की धारा का स्वरूप क्या था? अतः हिन्दी एकांकी के स्वरूप को पहचानने के लिए अपनी उस उपलब्धि को देखना होगा, जिसे हम किन्हीं अर्थों में हिन्दी एकांकी की विरासत कह सकते हैं।

भारतेन्दु का नाम और उनकी सृजनशीलता के फलस्वरूप समूचा भारतेन्दु काल हिन्दी नाटक के विकास का प्रथम चरण है। इस चरण में नाट्य-कला की परम व्यावहारिकता—अर्थात् रंगमंच—की दिशा में आगे चलते ही पारसी रंगमंच की तूती बोल उठती है। इस विरोधी स्थिति के सम्मुख नाटककार भारतेन्दु ने जो निर्णय लिया, उसमें प्रतिक्रिया अधिक थी, दूरदर्शिता और व्यावहारिकता कम। भारतेन्दु ने अपने नाटकों का सृजन संस्कृत-नाटकों की प्रणाली से किया और उनमें भारतीय नाट्य-शास्त्र की स्थापना पर खूब बल दिया। इसका फल यह हुआ कि नाटकों का स्तर साहित्यिक हो गया और उनके प्रदर्शन से स्पष्ट हो गया कि वे नाटक दृश्यवस्तु न रहकर केवल पठन पाठन के सत्य बनकर रह गये। यह सत्य किसी न किसी रूप में समूचे भारतेन्दु-काल के नाटकों पर लागू है। साहित्यिक नाट्य-धारा पठन-पाठन की नाट्य-धारा होकर रह गयी। इस तरह हिन्दी नाटकों की ऐसी परम्परा स्थापित हुई कि उसके विकास-क्रम में आगे की समूची धारा उसी दिशा में प्रवाहित हो गयी। भारतेन्दु के बाद प्रेमघन, फिर मिश्र-बन्धुओं के नाटक 'महाभारत' और 'नेत्रोन्मीलन'' माखनलाल चतुर्वेदी का 'कृष्णार्जुन-युद्ध' और मैथिलीशरण गुप्त का 'चन्द्रहास' और इस विशुद्ध साहित्यिक नाट्य-धारा की चरम सीमा—प्रसाद का नाट्य-साहित्य। यह समूची नाट्य-धारा जैसे उस काल के व्यावहारिक रंगमंच से असम्पृक्त धारा थी क्योंकि दूसरी ओर विशुद्ध रंगमंच की भी धारा अबाध गति से चल रही थी—आगा, हश्र, बेताब, जौहर, जैदी तथा कथावाचक राधेश्याम का व्यक्तित्व, इस धारा के अन्यतम उदाहरण थे। इनको रंगमंच भी मिला था जो कहीं अति व्यावसायिक पारसी रंगमंच।

इस तरह से हिन्दी एकांकी के जन्म के समय हिन्दी नाट्य-क्षेत्र में दो सत्य उपलब्ध थे :

(अ) भारतेन्दु, प्रसाद की विशुद्ध साहित्यिक नाट्य-धारा—ऐतिहासिक, पौराणिक संवेदनाओं और धर्म-विषयों की स्थापना।

(आ) आगा हश्र, बेताब आदि के माध्यम से अनुशासित विशुद्ध व्यावसायिक पारसी रंगमंच का सत्य।

ध्यान देने की बात है—कि दोनों ओर 'विशुद्ध' जुड़ा हुआ है। इस 'विशुद्ध' ने इतना गहरा व्यवधान नाटक और रंगमंच के बीच डाल दिया कि हम आज भी उस दिशा में अग्रसर हैं।

पर हिन्दी एकांकी अपने आविर्भाव के साथ ही एक ऐसे समन्वयात्मक सत्य को लिए आया कि रंगमंच और एकांकी रचना—दोनों के सूत्र जैसे उसकी गाँठ में संस्कारतः बँधे थे। जैसे रंगमंच और एकांकी रचना दोनों एक दूसरे के अनिवार्य तत्व थे— शरीर और आत्मा की भाँति। भुवनेश्वर का 'कारवाँ' और डाक्टर रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई' इन दो एकांकी-संग्रहों के एक-एक एकांकी उक्त स्थापना के अन्यतम उदाहरण हैं।

भाव-पक्ष अथवा वर्ण्य विषयों की दृष्टि से इसके स्वरूप पर यथार्थ सामाजिकता और समकालीन जीवन के द्वन्द्वात्मक उद्वेलनों और जीवनगत मूल्यों की अभिव्यक्ति के प्रति सजग आग्रह है। कलापक्ष पर आधुनिक नाट्य-शैली की सफल छाप है। 'इब्सन' और 'शा' की शिल्प-विधियाँ और रंगमंच की व्यावहारिकता का सत्य—ये दोनों बातें यहाँ उभर कर आयी हैं। इस तरह हिन्दी एकांकी के स्वरूप में आदि से ही यथार्थ जीवन का प्रतिनिधित्व, रंगमंच की व्यावहारिकता और युग की यथार्थ सामाजिकता के प्रति जागरूकता और उसकी निष्पक्ष अभिव्यक्ति के लिए कलागत आग्रह—ये तत्व हिन्दी एकांकी के स्वरूप के मूलाधार हैं।

आगे चलकर इस स्वरूप के कई पक्ष हिन्दी एकांकी-साहित्य में विकसित होते हैं। अध्ययन की दृष्टि से इन्हें दो कारणियों में बाँटा जा सकता है।

(अ) ऐतिहासिकता एवं पौराणिकता के धरातल पर साहित्यिक एकांकी, (पर विशुद्ध साहित्यिक नहीं) तथा रंगमंच की व्यावहारिकता : इस सरणि में डाक्टर रामकुमार वर्मा के समस्त ऐतिहासिक एकांकी हैं जैसे, 'पृथ्वीराज की आँखें', 'चारुमित्रा', 'रजत-रश्मि', 'अशोकराज' और 'कौमुदी महोत्सव' आदि संग्रहों के एकांकी। हरिकृष्ण 'प्रेमी' के एकांकी, जिनकी संवेदनाएँ समकालीन

ऐतिहासिक कथाओं से ग्रहण की गयी हैं और इसी तरह सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट और लक्ष्मीनारायण मिश्र के भी नाम इसी क्रम में आते हैं।

(आ) यथार्थ सामाजिकता के स्तर से परम अभिनेय एकांकी। इस सरणि के उदाहरण हैं, भुवनेश्वर का 'कारवां', डा० रामकुमार वर्मा की 'रेशमी टाई', सेठ गोविन्ददास का 'सप्तरश्मि', 'स्पर्धा', 'एकादशी', 'पंचभूत', और 'चतुष्पथ', उदयशंकर भट्ट का 'समस्या का अन्त', 'चार एकांकी', भगवतीचरण वर्मा के 'दो कलाकार', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के 'देवताओं की छाया में'। इस सरणि में इसी क्षेत्र के दो-तीन अन्य नाम—उग्र, सद्गुरुशरण अवस्थी और गणेशप्रसाद द्विवेदी—नहीं छोड़े जा सकते।

इन दोनों दिशाओं में हिन्दी एकांकी को जो कलागत, शिल्पगत और रंगमंचगत स्वरूप मिले हैं, वस्तुतः वे परम उल्लेखनीय हैं। उन्हीं उपलब्धियों से ही हिन्दी एकांकी को आज एक आश्चर्यजनक मर्यादा और प्रतिष्ठा मिली है।

पहली दिशा में 'संकलन-त्रय' और 'संकलन-द्वय' की स्थापना इसके स्वरूप की मूल धुरी है, जहाँ एकांकी का समूचा संविधान उससे प्रेरित होता है।

डा० रामकुमार वर्मा की कला के अनुसार संकलन-त्रय एकांकी कला की मूल आत्मा है : जिस एकांकी में इस सत्य का निर्वाह नहीं, वह एकांकी न होकर कुछ और है, ऐसी उनकी निश्चित धारणा है। इसके सफलतम उदाहरण डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी हैं। संकलन-त्रय की पूर्ण प्रतिष्ठा के ही फलस्वरूप उनकी एकांकी कला में एक आश्चर्यजनक कसाव और रंग-शक्ति आ गयी है और उसके नाटकीय परिस्थितियों की सुन्दर से सुन्दर अवतारणा हुई है।

इसके विपरीत सेठ गोविन्ददास ने संकलन-त्रय में से केवल संकलन-द्वय—(१) एक ही काल की घटना (२) एक ही कार्य को एकांकी की शिल्प-विधि में अनावश्यक माना है। इसमें उन्होंने देश-संकलन को बिल्कुल स्थान नहीं दिया है। आगे चलकर उन्होंने एकांकी-शिल्प में से काल-संकलन को भी अलग कर दिया है तथा इसकी पूर्ति के लिए एकांकी रचना-विधान में 'उपक्रम' और 'उपसंहार' की प्रतिष्ठा की है। निस्सन्देह इस नव विधान से एकांकी कला

के स्वरूप को व्यापकता मिली है, पर इससे एकांकी की अपनी निश्चित कला में—जो उसकी अपनी मर्यादा है, उसमें निर्बलता आती है।

दूसरी विधा में एकांकी-कला के स्वरूप को आश्चर्यजनक शक्ति और व्यापकता मिली है, जिसपर मौलिकता और अभिनव तत्व की सफल छाप है। यह कला हमारे जीवन को इतने समीप से, इतनी सच्चाई और सांकेतिक सम्पूर्णता से बाँध कर चलती है कि जीवन अपने अन्तर्द्वंद्वों सहित जैसे खिल उठता है। इस विधान के स्वरूप में एकांकी का एकांत प्रभाव और वस्तु का ऐक्य ही अनिवार्य है, शेष देश-काल की एकता या विभिन्नता या तो एकांकी की रचिकता पर निर्भर करता है, या एकांकीकार की प्रतिभा पर। सफल शिल्प-विधि की दृष्टि से परम शिल्पी एकांकीकार वही है, जो जीवन के एक पक्ष, एक घटना, एक परिस्थिति को उसकी ही स्वाभाविकता से अपनी कला में बाँध ले, सँवार ले, जैसा कि जीवन में नित्यप्रति सम्भाव्य है। इसके लिए संकलन-त्रय, संकलन-क्रम की सीमा और मर्यादा का कोई बन्धन नहीं है। इसमें सबकी अपेक्षा है और समान्य स्थितियों में सब अग्राह्य भी हैं—केवल परम आवश्यक है, एकांकी में एकाग्रता और एकांत प्रभाव। इसकी प्राप्ति के लिये एकांकी-कार जो भी तन्त्र उसमें प्रस्तुत करता है वस्तुतः वही एकांकी की शिल्प-विधि है और वही एकांकीकार की अपनी मौलिकता की छाप है।

इस युग के विकास-क्रम में हिन्दी एकांकी-साहित्य का दूसरा चरण अगली पीढ़ी के एकांकीकारों से आरम्भ होता है। इस चरण में कुछ नाम प्रथम चरण के भी आते हैं, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और जगदीशचन्द्र माथुर। इस चरण में जितने नये नाम हिन्दी एकांकी के साहित्य को मिले हैं, उनके जो स्वरूप हिन्दी एकांकी कला को मिले हैं, वह और भी उल्लेखनीय हैं। उससे जितनी उपलब्धि, जितना स्वरूप हिन्दी एकांकी को अब तक मिल चुका है, वह निश्चय ही देखा जा सकता है।

इस नयी पीढ़ी को जो चेतना और मनोभाव मिले हैं, उसके विकास-क्रम में, द्वितीय महायुद्ध, उससे प्राप्त जीवन की आतुरिक प्रतिक्रियायें और प्रभाव, स्वतन्त्रता क्रांति तथा स्वतन्त्रता-प्राप्ति के सत्य हैं और उसके उपरान्त की वे सभी स्थितियाँ भी अमिट हैं, जिनका मानव-मूल्यों, जीवन-स्तर, राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय चेतना पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है।

मानव चेतना और जीवनगत मूल्यों पर राजनीति-अर्थनीति का आश्चर्य-जनक प्रभाव पड़ा है। उसके सारे नैतिक, सामाजिक दृष्टिकोणों में ध्वंस और विघटन का भाव प्रस्तुत है।

इस प्रेरणा और प्रगति में जो उपलब्धि अपनी मौलिकता और निजत्व के आग्रह और अनुभूति से इस चरण ने हिन्दी एकांकी-साहित्य को दी है, उसके उदाहरण-स्वरूप ये नाम और उनकी रचनाओं की कुछ बानगी इस प्रकार है—उपेन्द्रनाथ 'अश्क' 'पर्दा उठाओ पर्दा गिराओ', जगदीशचन्द्र माथुर 'ओ मेरे सपने' लक्ष्मीनारायण लाल के 'दूसरा दरवाजा' 'काफी हाउस में इंतजार' धर्मवीर भारती—'नदी प्यासी थी', 'नीली झील'। विष्णु प्रभाकर—'मीना कहाँ है'। विनोद रस्तोगी—'काले कौए गोरे हंस' और विपिन कुमार के 'तीन अपाहिज'।

इस चरण से हिन्दी एकांकी को अब तक जो स्वरूप मिला है, उसमें कथा और टेकनीक के स्तर पर प्रयोगशीलता, यथार्थ जीवन-बोध और उत्तरोत्तर अपनी कथा को गतिशीलता देने का आग्रह सर्वत्र व्याप्त है। अभिनय और रंगमंच की चेतना सजग हो गयी है कि एकांकी रचना और उसके विधान का स्वरूप पिछले चरण की अपेक्षा बहुत भिन्न लगने लगा है। निर्देश, अंक, कथोपकथनों की सूक्ष्मता, अभिनय-प्रस्थान पर बल, नाटकीय परिस्थितियों का सूक्ष्म चयन और उनका वैज्ञानिक ढंग से निर्वाह—इस चरण के एकांकियों के स्वरूप की पहचान है।

□ □

हिन्दी नाटक और नया नाटक

हिन्दी-नाट्य-साहित्य में भारतेन्दु को द्वार का आगे विलुप्त हो जाना दूसरे रंगमंच और नाट्य-लेखन की दिशा में एक करुण घटना थी। इसकी जितनी जिम्मेवारी आगे के नाटककार वर्ग पर थी, उससे कहीं अधिक जिम्मेवार उस युग की सांस्कृतिक चेतना थी, जिससे भारतेन्दु-युग के बाद सुधार-आन्दोलन तथा पुनरुत्थान के नाम पर इस कला-माध्यम को दूसरा दर्जा मिला।

भारतेन्दु का वह काल हिन्दी-नाट्य-लेखन और व्यावहारिक रंगमंच-उत्थान की उषा बेला थी। उस समय नाट्य लेखन और रंगमंच कार्य दोनों एक दूसरे से अभिन्न कर्म समझे गये थे। साथ ही उस समय नाट्य लेखन और उसका रंगमंच अपनी संस्कृत, मध्ययुगीन नाट्य परंपरा और उसकी उपलब्धियों से कहीं परिपुष्ट था। उसका अपनी भूमि और कला-संस्कार से सीधा लगाव था, जिसका थोड़ा फल हमें आगे देखने को मिलता है। तीसरी बात, जो विशेष रूप से इस संदर्भ में उल्लेखनीय है, वह यह कि भारतेन्दु के नाट्य लेखन में विधि नाट्य-शैलियों तथा रंग-पद्धतियों की प्रतिष्ठा है, जिससे रंगमंच की सहज शक्ति का आभास मिलता है और इसके अपार भविष्य के प्रति मन आस्थावान् होता है। पर इतिहास ने ऐसा नहीं होने दिया।

और इसके बाद हिन्दी-नाट्य-लेखन का जो दूसरा अध्याय खुला, उसकी प्रेरणा और उसमें रंगमंच का स्वरूप प्रायः अनिश्चित, काल्पनिक और असंगत था। अपने एकांत धर्म—रंगमंच से विमुख हो आगे नाटक सिर्फ अध्ययन-अध्यापन की सामग्री बनकर रह गया।

दूसरी ओर व्यावहारिक रंगमंच पारसी थिएटर के हाथों में चला गया, जहाँ नाटक अपेक्षाकृत गौण था, मुख्य था उसका व्यवसाय।

उस समय पारसी थिएटर केवल हिन्दी क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि समूचे भारत-

वर्ग का रंग सत्य था। लगभग पांच सौ वर्षों तक के मुसलमानी शासन और संस्कृति के कारण जो भारतीय जनता मनोरंजन की भूखी थी, वह स्वभावतः इस पारसी रंगमंच के मनोरंजन में टूट पड़ी।

इसका प्रभाव समूचे युग और देश पर पड़ना ही था—क्या दर्शक के स्तर से, क्या अभिनेता, प्रस्तुतकर्ता और नाटककार के स्तर से!

हिन्दी-क्षेत्र में इस संदर्भ में एक विचित्र बात घटी। यहाँ भारतेन्दु के बाद लगभग पचास वर्षों तक अपना रंगमंच ही विलुप्त रहा। जनता मनोरंजन के लिए दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई की ओर से आने वाली पारसी कम्पनियों के खेल (थेटर) देखती रही।

किन्तु ठीक इसके विपरीत बंगाल, महाराष्ट्र, गुजरात और दक्षिण में उनका अपना रंगमंच अबाध गति से चल रहा था।

किन्तु जब पारसी रंगमंच का युग समाप्त हुआ, उस रंगमंच के स्थान पर जब सिनेमा आया—तब इस क्षेत्र में क्या गति हुई, इसका लेखा-जोखा बड़ा ही मनोरंजक है। वस्तुतः सिनेमा के सामने पारसी रंगमंच इसलिए खत्म हो गया कि सिनेमा ने यथार्थवाद और स्वाभाविकता के स्तर से एक नये प्रकार के अभिनय और प्रदर्शन को उसके सामने ला खड़ा किया। फलतः पारसी थियेटर के वे नाटक, जो गाना, नाच, जोशीले भाषण, शेरो-शायरी तथा रोमांचपूर्ण घटनाओं तथा कथान्तरों से निर्मित होते थे, सहसा मूल्यहीन हो गये। और सिनेमा के सामने यह संपूर्ण नाट्यधारा समाप्त हो गयी।

पर ध्यान देने की बात यह है कि पारसी रंगमंच के युग में हिन्दी-क्षेत्र को छोड़कर अन्य उन सब प्रान्तों में, जहाँ उनके रंगमंच अबाध गति से चल रहे थे, उन पर पारसी रंगमंच के तत्वों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से कहीं न कहीं प्रभाव डाला था।

सम्भवतः बंगाल में पारसी रंगमंच के उन्हीं जमाये हुए तत्वों को खोद फेंकने तथा रंगशाला को धुल-साफ करने के लिए टैगोर ने अपनी नाट्य-धारा की नयी गंगा बहायी है, और जिसकी कथा अनेक अर्थों में प्रभावशाली है। टैगोर के इस महत् कार्य का फल बंगाल के नये नाट्य-लेखन में स्पष्ट है। वहीं तभी इतना रंगमंच कला-स्तर है जहाँ 'बहुरूपी' 'लिटिल थियेटर' 'मुक्तांगन' आदि के वैसे सफल नाट्य-प्रस्तुतीकरण संभव हैं।

किन्तु शेष अन्य प्रान्तों में, जहाँ टैगोर जैसा नाटककार नहीं आया, वहाँ

स्वभावतः वर्तमान समय में भी उसके नाट्य-लेखन में कैसे कहीं पारसी रंगमंच कहीं न कहीं झाँक रहा है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से समूचे हिन्दी-क्षेत्र में उन पचास वर्षों की लम्बी अवधि में जो रंगमंच की शून्यता आई जिसे रंगक्षेत्र में इतना बड़ा व्यवधान आया, हमारे लिए यह हानि की बात नहीं सिद्ध हुई। हम कम से कम पारसी रंगमंच के उस प्रभाव से तो मुक्त रहे।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद समूचे भारतवर्ष में, विशेषकर हिन्दी-क्षेत्र में रंगमंच का जो नवोन्मेष आया, इसमें रंगमंच-निर्माण और नाट्य-लेखन दोनों कार्य एक ही साथ शुरू हुए। यह शुभ संयोग हिन्दी-रंगमंच क्षेत्र में भारतेन्दु के बाद सम्भवतः पहली बार घटित हुआ।

पचास वर्षों की रंगमंच-शून्यता और इस अवधि में पठन पाठन के लिये गए नाट्य-साहित्य के अध्याय को बन्द कर उसके आगे हिन्दी के नये नाटककार के सामने दो गहन स्थितियाँ थीं :

(क) नाटक अपने व्यावहारिक रंगमंच के लिये निर्मित हो।

(ख) नाटक का और रंगशिल्प और रूपबंध क्या हो? क्योंकि नये नाटककार को विरासत के रूप में पचास वर्षों की केवल रंग-शून्यता प्राप्त थी।

हिन्दी में के नाटककार ने इस तरह पहली बार अपने आपको प्रथमतः रंगमंच का अभिन्न अंग अनुभव किया तथा वह रंगशाला में ही बैठकर अपने नाटक लिखे—यह भूख पहली बार उसमें जागती है। पर उसके सामने तभी यह प्रश्न उठता है कि उसका रंगमंच है कहाँ? किधर है? कैसा है वह?

इसके लिए हिन्दी का नया नाटककार नाट्य-लेखन के माध्यम से अपने रंगमंच-अन्वेषण में लगता है। और इस अन्वेषण-प्रक्रिया से हिन्दी में नये नाटक का जन्म होता है। नया नाटक अर्थात् रंग-नाटक! नया-नाटक अर्थात् विभिन्न रंग-शैलियों का नाटक! क्योंकि इसका उदय रंग अन्वेषण और रंग निर्माण की व्यावहारिक प्रक्रिया से शुरू हुआ।

हिन्दी का नया नाटक और उसका नया रंगमंच विभिन्न रंग प्रयोगों का उदाहरण है, किसी एक परंपरा का पालन नहीं। और न तो यह किसी बासी, समाप्त रंग पद्धति का 'हैंग ओवर' ही है। हिन्दी का यह नया नाट्य अपने सही अर्थों में प्रयोग है, जिसने नाटककार तथा रंगकर्मी को एक विशाल, अपूर्व कर्मक्षेत्र प्रदान किया। इस रंगउल्लास तथा नव-जीवन के

पीछे व्यावहारिक रंगमंच की सामर्थ्य है, केवल बौद्धिकता ही नहीं। और यह सामर्थ्य अपने रंग-अन्वेषण तथा रंगमंच-प्रतिष्ठा में हिन्दी अथवा भारतीय रंगमंच की नयी पद्धतियां निर्धारित कर रहा है और साथ ही साथ उसी स्तर से उसी रंगकर्मयोग से नाट्य-लेखन की शैलियां भी निर्मित कर रहा है। इस सबका व्यावहारिक कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी नाट्य प्रदर्शनों को एक गति प्राप्त हुई। काफी उत्साह से उठकर रंगकर्मी इस क्षेत्र में आए और हिंदी का नया नाट्य लेखन प्रदर्शन सुख हुआ। कई नाटककार प्रकाश में आए, साथ ही भारत की अन्य भाषाओं से भी अच्छे नाटक अनूदित होकर हिन्दी में आने लगे। सही अर्थों में इस तरह हिंदी का रंगमंच राष्ट्रीय रंगमंच की भूमिका अदा करने लगा। ऐतिहासिक और पौराणिक नाट्य द्वारा हमारे यहाँ की बड़ी अवास-द्वारा थी और इसमें 'कोणार्क' के लेखन से एक नई शुरुआत इस क्षेत्र में हुई। इसी तरह सामाजिक नाट्य द्वारा में 'मादा कैक्टस' जैसे प्रतीकवादी रंगधर्मी नाटक से सामाजिक यथार्थ का एक नया नाट्य शुरू हुआ।

आगे चलकर 'कोणार्क' और 'मादा कैक्टस' इन दोनों धाराओं का विकास हिन्दी में हुआ और 'अंधा युग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'लहरों का राजहंस', 'शतरानी', 'दर्पण' इन सभी नाटकों से हिंदी का रंगमंच महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा और एक गंभीर रंगमंच आंदोलन का सूत्रपात शुरू हुआ। किन्तु जब हम पिछले वर्षों के हिन्दी नाटक का लेखा-जोखा करने बैठते हैं तो हमें सहसा यह बात याद आने लगती है कि इतने बड़े रंगमंच आंदोलन के होते हुए भी हिंदी में शायद नाटक ही अन्य विधाओं की तुलना में सबसे कम लिखा जा रहा है और जितना लिखा भी जा रहा है उसका स्तर भी अन्य साहित्य-रूपों की कृतियों की अपेक्षा कमजोर है। दरअसल हिन्दी की ही यह स्थिति केवल नहीं है, प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में नाट्य-लेखन कम है और उसके प्रदर्शन और भी कम है।

इसकी वजह यह है कि नाटक रंगमंच का सत्य है और रंगमंच प्रदर्शन का। इसलिए इसकी स्थिति प्रत्यक्ष रूप से समाज सापेक्ष है। व्यक्ति सापेक्ष नहीं।

गत दो दशकों में हिंदी नाटक और रंगमंच क्षेत्र में परंपरा, प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पूरब और पश्चिम इन सब रंग-दृष्टियों का सम्यक् अध्ययन आरम्भ हुआ। हिन्दी-क्षेत्र के प्रमुख नगरों तथा बंबई कलकत्ता तक में संस्कृत, अंग्रेजी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के नाटक खेले जाने लगे तथा नाटककार

पहली बार रंगमंच के व्यावहारिक क्षेत्र में आया—अभिनेता रंग-शिल्पी और दर्शक के बीच बैठकर कार्यरत हुआ। इस व्यापक परिवेश और रंग-चेतना के भीतर से कई महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली आधुनिक नाटक हिन्दी में प्रकट हुए—जैसे—'मादा कैक्टस', 'अंधायुग', 'आषाढ़ का एक दिन', 'राजरानी', 'लहरों का राजहंस' तथा 'दर्पन'—इन सभी नाट्य कृतियों की शक्ति यह है कि इनमें रंगमंच-पक्ष और साहित्य-पक्ष दोनों का समन्वय है और इन सबमें व्याप्त जीवन यथार्थ बोध और रंग-दृष्टि पूर्ण आधुनिकता के अनेक संदर्भ भी हैं।

पिछले दशक में हिन्दी के अपने मौलिक नाट्य-लेखन जगत में और भी कई महत्त्वपूर्ण नाट्य-कृतियाँ आयी हैं, जैसे—'आधे-अधूरे', 'शुतुरमुर्ग', 'त्रिशंकु', 'कलंकी', 'सूर्यमुख', 'मिस्टर अभिमन्यु', 'बिना दीवार का घर', इन सभी नाटकों के माध्यम से समसामयिक समाज का यथार्थ रंग-चित्र प्रस्तुत किया गया है।

'आधे-अधूरे' में वर्तमान समाज के पति-पत्नी के सम्बन्धों में जो एक नया तनाव आया है और जिससे बार-बार यह लगा है कि हमारे घर अधूरे हैं और इसमें रहने वाले दम्पत्ति भी आधे-अधूरे हैं—इसका गंभीर चित्र हमारे सामने प्रस्तुत हुआ है। इस नाटक का रंगमंच शिल्प भी इस अर्थ में नया है कि इसमें एक ही व्यक्ति कई व्यक्तियों की भूमिकाएँ लेकर इस नाटक में अवतरित हुआ है।

'शुतुरमुर्ग' एक राजनीतिक फंतासी है, जिसमें स्वातन्त्र्योत्तर भारत की राजनीतिक तस्वीर बड़े मार्मिक मौलिक ढंग से प्रस्तुत की गयी है। शुतुरमुर्ग प्रतीक है हमारे उस राजनीतिक भावबोध का जहाँ निर्णय लेने वाला राजनेता स्थिति आने पर शुतुरमुर्ग की तरह अपनी गर्दन अंध-विश्वास के बालू में गड़ा लेता है। इसमें एक ऐसी नगरी की कल्पना की गयी है जहाँ राजा तमाम मूर्ख चापलूस मंत्रियों के बीच फँस गया है और वह कोई सही निर्णय नहीं ले पाता।

'कलंकी' एक ऐसा नाटक है, जिसमें 'हिन्दू मिथ' का प्रयोग आधुनिक जीवन बोध की अभिव्यक्ति के लिए किया गया। 'कल्कि अवतार' की गाथा प्रसिद्ध है और उसमें यह बताया गया है कि कलयुग में जब सारी समस्या इतनी बिगड़ जाएंगी कि उनका हल मनुष्य नहीं ढूंढ पाएगा तो कल्कि अवतार होगा वही सारी समस्याओं का समाधान करेगा। इस हिन्दू मिथ को

नाटककार ने व्यक्ति स्वतन्त्रता के मूल्यों के लिए इस्तेमाल किया है। एक ऐसी काल्पनिक नगरी में इस नाटक की कथा शुरू होती है जहाँ अकाल पड़ा हुआ है, लोग मर रहे हैं और नगर में एक अवधूत आकर जप-उपासना कर रहा है, ताकि कल्कि अवतार हो और उसके अवतार से फिर लोग सुखी और सम्पन्न हों। इस परिवेश में एक निर्वासित युवक अपने घर वापस आता है और उस नगर के लोगों से कुछ बुनियादी सवाल करता है। 'सूर्यमुख' में पौराणिक संवेदना लेकर नाटककार ने पुनः आजादी के बाद की नयी पीढ़ी के बुनियादी सवाल को रंगदृष्टि दी है। यह नाटक उस द्वारिका के जीवन पर आधारित है जहाँ अब न कृष्ण हैं, न बलराम, न कोई अन्य वंशोद्भव। वहाँ केवल कृष्ण के पुत्र हैं और उनकी विधवा माताएँ हैं तथा दोनों तरफ से समुद्र द्वारिका को डुबाने आ रहा है। इस अंधेरे संसार में सूर्यमुख है, कृष्ण का ज्येष्ठ पुत्र प्रद्युम्न और उनकी प्रिया वेनुरती। 'मिस्टर अभिमन्यु' एक सामाजिक नाटक है, जिसमें परोक्ष में वही हिन्दू मिथ चक्रव्यूह में फंसे अभिमन्यु का—कार्यरत है। आज का मनुष्य अपने ही बनाये हुए चक्रव्यूह में किस तरह फँसा है और वह किस तरह बिना लड़े हुए मारा जाता है, इसका एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज इस नाटक में मौजूद है।

'चार अपाहिज', 'एक स्थिति' और 'बिना दीवार का घर', ये नाटक भी इन पिछले वर्षों की उल्लेखनीय नाटक-कृतियाँ हैं और इनसे मौलिया रंगमंच को बल मिला है।

इधर के हिन्दी नाटक पर जब हम विचार करते हैं तो हमारे सामने मौलिक हिन्दी नाट्य लेखन के प्रकाश में कई नाटक आते हैं। (१) गिरिराज किशोर लिखित 'मरमेध', (२) 'हयवदन एक आकार की' जिसके लेखक हैं ललित सहगल, (३) सोमनाथ धूदानी द्वारा लिखित 'शायद हो', (४) सुरेन्द्र वर्मा लिखित 'द्रौपदी', (५) आर० जी० आनन्द द्वारा लिखित 'दसदल' और (६) भगवतीचरण वर्मा द्वारा लिखित—'रुपया तुम्हें खा गया।'

अनूदित और रूपान्तरित

हिन्दी में अन्य भाषाओं से अनूदित और रूपांतरित भी कई नाटक, इधर सामने आये हैं। अनुवाद के क्षेत्र में बंगला का 'छायानट', जिसके मूल लेखक बादलदल और अनुवादक हैं—कृष्णकुमार : अन्य बंगला नाटकों में हैं—बादल सरकार का 'एवं इन्द्रजीत', 'बाकी इतिहास', 'सारी रातो' और 'पगला घोड़ा।'

कन्नड़ नाटक के हिन्दी अनुवाद 'सुनो जनमेजय', 'तुगलक', 'हयवदन' उल्लेखनीय हैं। इनमें कुछ नाटकों के अनुवाद प्रतिभा अग्रवाल और नेमिचन्द्र जैन ने बड़ी कुशलता से किया है। 'जरासंध' की बंगला कहानी 'लोहे की दीवार' (लोह कपाट का हिन्दी नाट्य रूप) अनिल कुमार मुखर्जी ने किया। बंगला से हिन्दी में अनूदित अन्य नाटकों में कृष्ण कुमार द्वारा अनूदित मोहित चटर्जी का 'निषाद' प्रमुख कृतियाँ हैं, जिनसे हिन्दी के माध्यम से बंगला नाट्य साहित्य की समसामयिक तस्वीर मिलती है।

सरोजनी वर्मा द्वारा मराठी के विजय तेंदुलकर के नाटक 'पंछी ऐसे आते हैं' आदि अनुवाद भी प्रसिद्ध हैं।

विदेशी नाटकों के कई अनुवाद इधर हिन्दी भाषा में आए हैं और उनके प्रकाशन और प्रदर्शन भी हुए हैं, जैसे—(१) तलछट (लोअर डैप्थ्स)—मैक्सिम गोर्की : अनुवादक वीरेन्द्र शर्मा (२) काँच के खिलौने (द ग्लास मिनेजरी)—टैनेसी विलियम्स : रूपान्तरकार : हरिकिशन दास अग्रवाल (३) आवाज़ (एन इन्सपेक्टर कॉल्स)—जे० बी० प्रीस्टले : अनुवादक : कृष्णकुमार (४) गोदो के इंतजार (वेटिंग फ़ॉर गोडो) सैमुअल बैकेट : अनुवादक : कृष्ण बलदेव वैद; (५) इन्तजार—सैमुअल बैकेट, अनुवादक, अनिल कुमार मुखर्जी, (६) गैंडा (राइनोसेरस) आयनेस्को, अनुवादक, अनिल कुमार मुखर्जी, (७) सेल्समैन की मौत, आर्थर मिलर, अनुवादक, अनिल कुमार मुखर्जी, तीन टके का स्वांग (थ्री पेनी ऑपेरा) बर्टोल्ट ब्रेख्त, अनुवादिका : सुरेखा सीकरी।

इधर हिन्दी के मौलिक नाटकों में मुद्राराक्षस, सुरेन्द्र वर्मा, बलराज पंडित, बी० एम० शाह, अमृतराय, ज्ञानदेव अग्निहोत्री, मोमना भूटानी ने अपने मौलिक नाटकों में समसामयिक जीवन और समाज का जैसे आँखों देखा चित्र प्रस्तुत किया है। इस नाट्य कृतियों में एक नए प्रकार के रूपबंध और नए शिल्प की खोज है और साथ ही इन नाटकों में बड़ी निर्भयता और विश्वास के साथ व्यक्ति और समाज के समसामयिक यथार्थ को चित्रित किया है। इसमें जिस तरह के संवाद और संवादों की जिस प्रकार की भाषा इस्तेमाल हुई है, उसमें ताजगी है और समसामयिक रंगमंच के संकेत हैं।

सुरेन्द्र वर्मा द्वारा लिखित 'द्रौपदी', जिसका प्रदर्शन दिशान्तर ने किया और जिसका प्रकाशन नटरंग में हुआ, यह नाटक कई बातों में दिलचस्प है और अपने आप में सृजन का एक अच्छा उदाहरण है। इस समसामयिक सामाजिक नाटक में 'द्रौपदी' का हिन्दू मिथ अच्छे ढंग से सांकेतिक रूप में इस्तेमाल

हुआ है। मूल पात्र हैं मन मोहन और चार नकाब वाले हैं, वैसाखी के साथ और ये पांचों पात्र इस नाटक में बसी, द्रौपदियों के वर्तमान यथार्थ को उद्घाटित करते हैं। यह दो अंकों का नाटक है और पहला अंक दिन के वक्त घर में संपादित होता है और दूसरा रात के वक्त घर के बाहर चरितार्थ होता है। सुरेखा इस नाटक की सूत्रधार है और वही सबसे अधिक द्रौपदी के मिथ को अपने में समेटने और प्रकट करने में सफल है।

'द्रौपदी', 'पांचवां सवार', 'करफ्यू' और 'अब्दुल्ला दीवाना' नाटकों में कई रंगमंचीय प्रयोग हुए हैं और ऐसा भी लगता है कि अपनी बुनियादी बात कहने के लिए नाटककारों ने कई विदेशी और भारतीय नाट्य-परम्पराओं को बखूबी इस्तेमाल किये हैं। ऐसे साहसिक प्रयोग हिन्दी के नये रंगमंच की तलाश में बहुत मूल्यवान हैं और इनसे हिन्दी रंगमंच को बहुत बल मिलेगा। इन नाटकों की भाषा, कथ्य इनका रंगमंच पक्ष, दोनों सबल हैं और इनका अपना एक प्रभाव है, जो पढ़ने से भी हमें प्राप्त होता है और देखने से भी।

पिछले वर्षों में भारत की एक किसी भी भाषा में लिखा हुआ कोई भी उल्लेखनीय नाटक ऐसा नहीं शेष रह चुका है, जिसके अनुवाद और प्रस्तुतीकरण हिन्दी में न हुए हों। इसलिए हम बड़े विश्वास से कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का जो महत्वपूर्ण सफर प्रारम्भ हुआ उसका महत्व विकास पिछले दशकों में हुआ है। इन वर्षों में लेखन, प्रदर्शन और रंग समीक्षा तथा दर्शक के सौन्दर्यबोध में परम्परा का प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पूरब और पश्चिम, श्रेष्ठ अश्रेष्ठ इन सभी रंग-दृष्टियों का विकास हुआ है।

□ □

हुआ है। मूल पात्र हैं मन मोहन और चार नकाब वाले हैं, बैसाखी के साथ और ये पांचों पात्र इस नाटक में बसी, द्रौपदियों के वर्तमान यथार्थ को उद्घाटित करते हैं। यह दो अंकों का नाटक है और पहला अंक दिन के वक्त घर में संपादित होता है और दूसरा रात के वक्त घर के बाहर चरितार्थ होता है। सुरेखा इस नाटक की सूत्रधार है और यही सबसे अधिक द्रौपदी के मिथ को अपने में समेटने और प्रकट करने में सफल है।

'द्रौपदी', 'पांचवां सवार', 'करफ्यू' और 'अन्दुला दीवाना' नाटकों में कई रंगमंचीय प्रयोग हुए हैं और ऐसा भी लगता है कि अपनी बुनियादी बात करने के लिए नाटककारों ने कई विदेशी और भारतीय नाट्य-परम्पराओं को बखूबी इस्तेमाल किये हैं। ऐसे साहसिक प्रयोग हिन्दी के नये रंगमंच की तलाश में बहुत मूल्यवान हैं और इनसे हिन्दी रंगमंच को बहुत बल मिलेगा। इन नाटकों की भाषा, कथ्य इनका रंगमंच पक्ष, दोनों सबल हैं और इनका अपना एक प्रभाव है, जो पढ़ने से भी हमें प्राप्त होता है और देखने से भी।

पिछले वर्षों में भारत की एक किसी भी भाषा में लिखा हुआ कोई भी उल्लेखनीय नाटक ऐसा नहीं शेष रह चुका है, जिसके अनुवाद और प्रस्तुतीकरण हिन्दी में न हुए हों। इसलिए हम बड़े विश्वास से कह सकते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद आधुनिक हिन्दी नाटक और रंगमंच का जो महत्वपूर्ण चरण प्रारम्भ हुआ उसका महत्व विकास पिछले दशकों में हुआ है। इन वर्षों में लेखन, प्रदर्शन और रंग समीक्षा तथा दर्शक के सौन्दर्यबोध में परम्परा का प्रयोग, प्राचीन और नवीन, पूरब और पश्चिम, श्रेष्ठ अश्रेष्ठ इन सभी रंग-दृष्टियों का विकास हुआ है।

परिशिष्ट

आज का पश्चिमी नाट्य

पश्चिम का आजकल का नाट्य, अपने आधुनिक समसामयिक सीमाओं और मर्यादाओं को पारकर आज जहाँ पहुँचा है—वह है ब्रुक, एब्सर्ड के बाद का जीवित अजीवित रंगमंच। हिन्दी नाटक और रंगमंच की तुलना में वह क्या है, कहाँ है, इसका अध्ययन मनोरंजक हो सकता है।

रंगमंच की दुनिया की याद बड़ी क्षणिक होती है। यह इसलिए भी कि हर प्रस्तुतीकरण उसी रात खत्म हो जाता है और अगले दिन उसकी पहचान के लिए फिर किसी नए प्रस्तुतीकरण की अनिवार्यता होती है। यह इस लिए कि नाटक और उसका रंगमंच किन्हीं नियमों में सख्ती से बंधा हुआ होता है। इन्हीं नियमों को तोड़ने का साहस और हर बात 'खत्म' हो जाने के भय ने गत दशक में पश्चिम के रंगमंचीय संसार में कुछ बड़ी विचित्र स्थितियाँ पैदा की हैं। सामाजिक-नैतिक स्वतन्त्रता के साथ जिस तरह पश्चिम की दुनिया में एक ओर व्यवसाय और बाजार का निर्मम, तेज भाव छाया है, उसी तरह दूसरी ओर इनमें अस्वीकार हो जाने का भय भी मिलता है। इन दोनों स्थितियों के दो प्रतिफलन अमेरिका और यूरोप में हुए हैं। एक ओर सम्पूर्ण नाटक और रंगमंच के नाम पर घोर नंगा रंगमंच पनपा है तो दूसरी ओर जीवित के नाम पर 'किल एण्ड स्नैक' का काला-गोरा, बीमार-गंदा रंगमंच तैयार हुआ है। तीसरी ओर ड्रामा और उसके थियेटर के बाद के देश-काल (टाइम-स्पेस) के प्रसंग में वास्तविक प्रतीति के लिए प्रयोगशाला रंगमंच (लैब थियेटर) स्थापित हुए हैं।

गत दशक में यह सब इतनी तेजी में हुआ है और हो रहा है कि 'एंग्री' और 'एब्सर्ड' (जिसकी अभी इधर चर्चा शुरू हुई है) जैसे रंग-आन्दोलन का

प्रवृत्तियाँ भी पश्चिम के लिए बासी, पुरानी और निरर्थक हो गयी हैं। साहित्यिक स्तर के आक्रोश, विरोध, विद्रूप और विडम्बना का वह मंच समाप्त हो गया जो छठे दशक में 'एंग्री यंगमैन' और एब्सर्ड के अनुयायियों के हाथों विकसित हुआ था। इसके दुस्साहसी समझे जाने वाले नाटककार ओछेपन और भद्देपन के आलम में कहीं खो गए और उनका बौद्धिक दुस्साहस फीका नज़र आने लगा।

इसे वहाँ के सामाजिक और नैतिक सन्दर्भ से उदाहरण देकर ज्यादा स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे पश्चिम का समसामयिक मनुष्य 'व्यवस्था' से तंग आकर अव्यवस्था में अपने को उघार कर स्वयं को तलाश या आजमा रहा है, वैसी तरह वह रंगमंच, नृत्य, संगीत और अपने जीवन को देखना चाह रहा है। जाहिर है, जैसा जहाँ का मनुष्य होगा, उसी के अनुरूप उसकी व्यवस्था अव्यवस्था होगी। पर यह यहाँ आज सबसे ज्यादा जाहिर है कि यह अव्यवस्था मूलतः सेक्स के संवेदन और भय अपराध के उल्लंघन पर टूटी है।

इसमें अमेरिका सबसे आगे है। वहाँ का मनुष्य दुर्भाग्य से सेक्स की स्वतन्त्रता को ही मनुष्य की मुक्ति समझता था। वहाँ का व्यक्ति अपने सामाजिक-आर्थिक कारणों से अपने आपको इसका निर्णायक मानता है कि वह क्या पढ़े और वह क्या देखे। और उसके लिए वह सेक्स की भूख की ईमानदारी में सबसे पहले ईमानदार सिद्ध होना चाहता है। इस सचाई को दो परस्पर-विरोधी नजरियों से देखा जा सकता है—समाज-सुधारक दृष्टि और वैज्ञानिक दृष्टि।

जीवन की गति की भयानक तेजी, बेहद तेज बदलते हुए, मानसिक अकेलेपन और इसकी तमाम परिणतियों (गोली खाने से लेकर चार वर्णों के शब्दों की दुनिया तक) के बीच आज का अमेरिका समाज सेक्स की आजादी से गुजरा है, उसका फल यह हुआ है कि उसके लिए 'सेक्स' अब एक देखे जाने वाला खेलतमाशा मात्र रह गया है।

रंगशाला से दूर भागता हुआ दर्शक वर्ग फिल्म में जिस सेक्स का यथार्थ देखने जाता है, वह यथार्थ रंगशाला में क्यों नहीं? नाटककार, निर्देशक और थिएटर में पूँजी लगाने वाले, इन तीनों ने यह तय किया कि 'नंगा शरीर' यथार्थ-बोध के लिए अनिवार्य है। नाट्यकारों ने कई ऐसे नाट्य-प्रदर्शन किए और उनके एक पात्र ने तो यह चुनौती तक दे डाली कि नग्न शरीर की यह क्रान्ति अन्य क्रान्तियों से भी ज्यादा क्रान्तिकारी है।

'फारचून एन मेन्स आइज़' नाटक में (जिसका विषय है 'समलैंगिकता'), जिसके अत्यन्त सफल प्रदर्शन 'लास ऐंजिलस' में हुए, नये अभिनेताओं के बीच बिल्कुल मिल कर बैठे हुए दर्शक वर्ग को इसी यथार्थ के शारीरिक और मानसिक अनुभव प्राप्त हुए। मार्टक्राउले का 'ब्वाइज़ इन द बैण्ड' भी इसी विषय और प्रकृति का दूसरा नाटक है।

डी० एच० लारेन्स ने बहुत पहले लिखा था कि तुम्हारा परिचय (उससे) उस आघात और अपमान से होगा जो मुख्यतः तुम्हारे द्वारा उसको दिया जाएगा, या उससे प्राप्त होगा। उसने यह कल्पना 'लेडी चैटर्ली' में व्यक्त की, पर आज अमेरिका का नव-नाट्य लेखन और प्रदर्शन उसकी कल्पना में न जा कर इसी को ही सच्चा सम्बन्ध मानता है। 'लिबर्टीज़' नाटक इसका उदाहरण है।

तेज़ व्यावसायिक समाज में बढ़ती हुई उदासी, निरपेक्षता और अजनबीपन ने निस्सन्देह इन कलाओं के लिए खतरा और चुनौती पैदा की है जो दर्शक-सापेक्ष हैं। विशेष कर नृत्य और नाटक के लिए। क्योंकि इनके लिए दर्शक और अभिनेताओं की पारस्परिक सम्पृक्तता बुनियादी शर्त है। इसके लिए आज के एक प्रसिद्ध कोरियोग्राफर रावर्ट जाफरी ने 'अस्त्र बैले' के जरिए दर्शक को पूरी तरह सम्पृक्त करने के लिए बैले के मूल तत्वों को ही नष्ट कर दिया है। लय के स्थान पर नंगा शरीर, संगीत के स्थान पर बिजली के अनेक यन्त्रों से तरह-तरह के नाद, बोल, शोर शराबा की सृष्टि और अन्य तरह-तरह की यान्त्रिक मुद्राएँ रच कर इस उद्देश्य को पूरा करना चाहा है।

रंगमंच के क्षेत्र में क्लासिकी नाटकों से आज के दर्शक-वर्ग को सम्पृक्त करने के लिए निर्देशक 'जोसफ पाप' ने न्यूयार्क में क्लासिकल पार्क जैसे ओडियस हैमलेट को आज के सन्दर्भों में प्रस्तुत किया।

इसी तरह आज पश्चिम के दर्शक-वर्ग की रंगचेतना में हँसाना आसान काम नहीं रह गया है। क्योंकि उनके जीवन में जो अकेलापन संत्रास और मानसिक बीमारियाँ प्रकट हो रही हैं, उनके भीतर से हँसाने, धक्का देने का कार्य 'एब्सर्ड' नाटकों ने अपने ढंग से पूरा कर लिया है। अब समस्या इसके आगे की है, जहाँ मनुष्य में कोई विशेष प्रतिक्रिया ही नहीं होती —न हँसने की न चमत्कृत होने की, न रोने की। इसलिए अब वहाँ कुछ नए ढंग की

सुखान्तियाँ चलती हैं, जैसे—'कामेडी ऑफ एब्सर्ड', 'ब्लैक कामेडी', तथा 'सिक कामेडी'।

वास्तव में पश्चिम के समाज में आज की मानसिक स्थितियाँ हैं, सुखान्तकी उन्हीं के भीतर से ही लिखी जाएगी और उसी रूप में मंच पर पेश होगी। उदाहरण के लिए पीटर निकोल्स की एक सुखान्तकी है 'जो एग' जहाँ दो अलग-अलग माँ-बाप के बीच एक लड़का खड़ा है और इसके चारों ओर निरपेक्ष मनुष्य खड़े हैं। अब यह देखना है कि उन लोगों का इस बारे में रवैया क्या है—यहीं से हँसी की केमिस्ट्री शुरू होती है। और इसी प्रक्रिया में वे सारे मानव-प्रहसन होते हैं जिन्हें आप 'काला', 'बीमार', 'नंगा और कुत्सा' कह सकते हैं।

एब्सर्ड ड्रामा में कुछ न कुछ शब्द, वाक्य तो थे, यहाँ तक कि बेकेट के 'वेटिंग फार गोदो' में भी, पर उसके उपरान्त की स्थिति अब शायद अनिर्वचनीय है। क्योंकि अब शब्द-शब्द न हो कर गिनीपिग चिड़िया है, जिसे भाप बनाया जा सकता है या जो उछाला जा सकता है। शब्द-व्यवहार के लिए जिस मानसिक आदान-प्रदान की अनिवार्यता है जिन बोधों की समानता की जरूरत है, जिस बुनियादी नैतिक सुबोधता की आवश्यकता है वह शायद यहाँ गायब हो रहा है। इसलिए अब यहाँ नाटक और रंगमंच इन दोनों स्तरों का 'कामसूत्र' की निःशब्द स्थितियाँ ज्यादा चल रही हैं। इससे एक ओर दर्शक की सुषुप्त काम स्थितियाँ विशुद्ध इन्द्रिय स्तर पर जगाई जा रही हैं, तथा दूसरी ओर मानसिक रिक्तता को शरीर,अंग, मारकाट, हत्या, गुत्थम-गुत्था से पाटा जा रहा है। 'हेयर' और 'ओह कैलकटा !' जैसे नाटकों में स्त्री-पुरुष के नंगे समूह-दृश्य ही नहीं, वह अशब्द नाटक भी है, जिसे चित्रित करने के लिए इब्सन से ले कर अल्बी तक इतने सारे शब्दों, बिम्बों की आवश्यकता महसूस हुई थी।

ड्रामा अपने मूल सन्दर्भ में संघर्ष था, अब वही ड्रामा भीतर से शून्य हो कर केवल बाहर गुरीला-युद्ध करना चाहता है। सानफ्रांसिस्को में रोनी डेविस का 'माइमट्रूप' अमेरिका का नाश करने के उद्देश्य से नाटक की रचनाएँ करा रहा है और उसे उसी तरह मंच पर प्रस्तुत कर रहा है। अफ्रीका का नाइजेरियन वोलसयिन्का की प्रसिद्ध कृति 'कोंगी हार्वेस्ट' इसका एक अत्यन्त बहुचर्चित उदाहरण भी है। इस नाटक में उसने नृत्य को उसी संघर्ष-युद्ध के ही रूप में इस्तेमाल किया है।

अमेरिका, इंग्लैण्ड, फ्रांस, इटली आदि अनेक देशों में इधर 'वनएक्टर' (एकपात्री) छोटे नाटक ज्यादा लिखे और खेले जा रहे हैं—विशेष कर कालेजों, विश्वविद्यालयों और कम्युनिटी थियेटरों में। इन नाटकों में दर्शकों को आकर्षित किए रखने और उन्हें मंच से बांधे रखने के लिए एक नंगी लड़की बैठा दी जाती है, और एक अभिनेता अपना एकांकी अभिनय करता है। अर्थात् नंगी स्थिति मंच-सामग्री के रूप में इस्तेमाल हो रही है, और कुछ नहीं। 'विटनेस', 'स्वीट इरोज' नाटक में एक नंगी लड़की दर्शकों के सामने कुर्सी पर बांध कर बिठा दी गयी है और उसे बांधने वाला लड़का 'मोनोलाग' (एकालाप) कर रहा है; लड़की मंच-सामग्री की तरह बिल्कुल जड़ और चुप है। पहले-पहल जब यह घोषित हुआ था कि राबर्ट एण्डरसन के नाटक 'आई कांट हियर यू ह्वेन दि वाटर इज़ रनिंग' में एक व्यक्ति कपड़े उतारता हुआ दिखाया गया, तो लोग सिर्फ हंस पड़े। यों आज मंच पर नग्नता का प्रदर्शन एक साधारण-सी बात हो गयी है। पर अब भी कुछ मंच से सम्बन्धित व्यक्ति ऐसे हैं जो यह मानते हैं कि नग्नता का प्रयोग किसी नाटकीय स्थिति के लिए ही होना चाहिए।

यह नाट्य शून्यता अथवा खोखलापन क्यों ?

अमेरिका, इंग्लैण्ड यहाँ तक कि जर्मनी और फ्रांस में नाटककार की सृज-
नात्मकता और उसकी कल्पना किसी न किसी तरह से एक ओर उद्योग-
व्यवसाय तक सीमित हुई है, दूसरी ओर उसके स्थापित होने के अहंकारबोध
तक। बेकेट, आर्थर मिलर, पिन्टर, आयनेस्को, ज्याँ जेने, ओसबर्न और एल्बी जैसे
गण्यमान्य नाटककार तक फिल्म, टेलीविजन और रेडियो के लिए विशुद्ध व्याव-
सायिक स्तर के नाटक लिखने के लिए बाध्य हुए हैं। विज्ञापन-संस्थाओं ने धन
लुभा कर नए प्रतिभाशाली नाटककारों को खरीदा है और वे बाहरी-भीतरी
अनावश्यक दबाव के कारण बिके भी हैं। और लोगों को यह महसूस करने
तथा दलील देने की स्थितियाँ मिली हैं कि नाटक और रंगमंच अब एक खिलौनी
लिखा रह गयी है और कुछ नहीं। इस खोखलेपन, रिक्तता के कुछ नमूने इधर को-
एक वर्षों में आए हुए नाटकों से मिलते हैं। यह प्रायः सभी जानते हैं कि आर्थर
मिलर और टेनिसी विलियम्स गत दो दशकों में अंग्रेजी रंगमंच पर उसी तरह छाये
रहे हैं, जिस तरह हेमिंग्वे और फाकनर कथा-क्षेत्र में। मिलर नाटककार के रूप
में इब्सन की यथार्थवादी परम्परा का नाटककार है, जो अपनी चेतना में मार्क्स
का मानसपुत्र है। इसी तरह टेनिसी विलियम्स चेखव की परम्परा का नाटक-

कार है; जो अपने मनोविज्ञान में फ्रायड का मानसपुत्र है। आज ये दोनों अपनी परम्परा और चेतना से बिल्कुल कट गए हैं। मिलर का नवीनतम ड्रामा है 'दी प्राइस'। यह कृति अपनी संरचना और बोध में १९२० के काल की है। मिलर का विचार है समाज के बदलने पर ही मनुष्य अपने सम्मान, लक्ष्य और मूल्य को प्राप्त कर सकता है। १९६८ में, जब कि बैकेट, आयनेस्को, जेने आदि ने बीसवीं सदी के वर्तमान मनुष्य के अस्तित्व को ही उसकी भयानकता में देख लिया है, यह विषय सपाट और बचकाना मालूम देता है।

दूसरा उदाहरण टेनिसी विलियम्स के नए नाटक 'द सेवन डिसेन्ट्स ऑफ मिर्टिल' का है। इसमें उनके पुराने नाटकों के इधर-उधर के बचे-खुचे टुकड़े, सम्वाद और दृश्यप्रभाव रख दिये गये हैं। इसमें उनके थके-चुके हुए नाटककार की 'नोस्टेल्जिया' के अतिरिक्त और क्या है। इसी तरह दूसरी कोटि के नाटककार, विलियम इंज, एण्डरसेन, पैडी शेफिस्की, अपने-अपने विचारों के व्याख्यापक ज्यादा सिद्ध हो रहे हैं, कृतिकार कम।

एडवर्ड एल्बी का नया नाटक 'एवरीथिंग इन द गार्डन' उनके पुराने नाटक का एक नए अंग्रेजी नाटककार गाइल्स कूपर द्वारा मंच पर प्रदर्शित और अब प्रकाशित रूप है। इसका विषय है—हम सब जहरीले हैं, हमें दूर-दूर रहना है। इसके तीन पात्र अपने-अपने व्यक्तित्व के नरक में रहते हैं। इसकी चरम-सीमा है—नायिका की विशुद्ध कर्मकाण्ड के ढंग से हत्या। लगता है यह किसी नाटककार की रचना न होकर किसी पादरी की चेतावनी है कि हे दुनिया के पतनशील लोगों, संभलो, पाप-अपराध, झूठ से सावधान! इसमें इलियट अथवा ग्राहम ग्रीन जैसी प्रतीकात्मकता भी नहीं है। एल्बी के दो और छोटे-छोटे नाटक आए हैं—'बाक्स' और 'कोटेशन फ्राम माओत्से-तुंग'। ये दोनों नाटक एक ही सूत्र में बंधे हैं। एक म्यूज़ के भीतर बाक्स खुलता है और असम्बद्ध आवाजें उठने लगती हैं। वस्तुतः ये सारी आवाजें, कथन मृत्यु के बारे में एकतरफा सम्वाद करती हैं। इसे ज्यादा से ज्यादा विचार का नाटकीयकरण कह सकते हैं।

इंग्लैण्ड के रंगमंच जगत में आसबर्न जैसे क्रुद्ध नाटककार का सारा क्रोध शान्त हो गया है। इनके दो नए नाटक 'टाइम प्रेजेण्ट' और 'द होटल इन एम्सटरडम' केवल उदासी, कटुता और निरुद्देश्यता को अभिव्यक्त करते हैं।

वह उनमें कुछ कहता नहीं, चीखता है। जो है, उतना ही दिखाता है, उसके मर्म तक नहीं जाना चाहता, बल्कि उसे छूता तक नहीं। 'रान्डम ग्रेवेन्ट' में केवल एक बेकार अविवाही को सब कुछ का केन्द्र बनाया गया है, जिसके जीवन में कभी कुछ नहीं घटता 'द होटल....' में अपने मालिक से भागे हुए दो व्यक्तियों का चरित्र-चित्रण मात्र है, जो होटल में भी मालिक की ही बातें कर रहे हैं।

कृतित्व-पक्ष की इस शून्यता और व्यावसायिक प्रभावों में व्यस्त नाटककार के कारण रंगमंच की उस दुनिया में जो तमाशा पनपा है, और जिस तरह का व्यावसायिक दर्शक-वर्ग वहाँ जिन मानसिक वृत्तियों के साथ आया है, इस परि-दृश्य में नाटक की स्वभावतः होड़, तरह-तरह के चौंकाने वाले, गर्मागर्म, चित्र-विचित्र रंगमंच-स्वरूप प्रकट हुए हैं। उनमें रंगमंच के सारे पक्षों में से किसी एक पर ही ऐसा बल है जिससे दर्शक आकर्षित हो।

इंग्लैण्ड में निर्देशक-प्रस्तुतकर्ता बरमैन ने 'दी थिएटर आफ इरोस' की कल्पना करते हुए यह घोषणा की है कि ड्रामा वही है, जो मनुष्य के दैनिक जीवन की प्रकृति से मेल खाता हो। उसका नया नाटक 'द न्यूडिस्ट कैम्पियर्स ओ एण्ड ओ' इंग्लैण्ड के एक कैफे एम्बिएन्स में दोपहर के भोजन के अवकाश में खेला जाता रहा है। वहाँ हर दर्शक को नंगा होकर केवल एक पत्ते से अपने को ढक कर नाटक देखने जाना हुआ है।

आस्ट्रिया के नाटककार बेकोवस्किण्ड ने अपने नए नाटक 'इरमो' में अभि-व्यंजना के नाम पर पागलपन की स्थितियों को रखा है; मंच पर जो कुछ भी किया जा सके, तोड़ा-फोड़ा जाए, जो कुछ भी ('ईवन') घटित किया जा सके, जोड़ा है। इसमें अभिनेता दर्शक में कोई विशेष विभेद नहीं है। इसमें हर अभिनेता एक 'डमी' के साथ मंच पर कोरस के रूप में उपस्थित होता है। एक अभिनय करता है, दूसरा उसे मूक दर्शक के रूप में देखता रहता है।

मेन से लेकर कैलीफोर्निया तक नीग्रो जाति ने अपने आपको जिस रूप में शेष गोरे अमेरिका से अलग किया है, उसमें और जितनी चीजें पैदा हुई हैं, पर उनमें 'ब्लैक थिएटर' प्रमुख है। इनमें दो थिएटर प्रमुख हैं—'नीग्रो एन्सेम्बुल कम्पनी' और 'न्यू लैफेटी कम्पनी।'

'नेकेड ड्रामा' के ही लिए उस अर्थ में इस तरह के रंगमंच प्रकार की जरूरत हुई है, ऐसा कहना इस थिएटर को सीमित करना है। 'लिविंग थिएटर' का आन्दोलन अमेरिका और यूरोप में समान रूप से बढ़ रहा है। इसके

समर्थक यह महसूस करते हैं कि हमारा समाज बीमार हो गया है। अतएव दर्शक में फिर से मनोवैज्ञानिक, मानसिक, वैयक्तिक, सामाजिक और राजनीतिक बोध लाने के लिए उसे पहले बीमारी से उठाना है, उसे जगाना है। 'ब्रुकलिन एकेडमी आफ म्यूजिक' ने इस तरह के रंगमंच को मान्यता दी है। चर्चित नाटक 'फ्रैंकन्स्टीन', 'मिस्ट्रीज एण्ड स्मालर पीसिज', 'एन्टीगोन', और 'पैराडाइज नाउ' पूरे यूरोप में 'लिविंग थिएटर' द्वारा प्रस्तुत हुए हैं। इनमें दर्शक के सारे तनाव, तिक्तता, ऊब, भय, नफरत दूर हो जाने की रामबाण औषधियाँ हैं। 'लिविंग थिएटर' वस्तुगत तथा आत्मगत और कला तथा जीवन के अन्तर को मिटा डालना चाहता है। वह मंच पर उन भव्य, श्रव्य और रमणीय दृश्यों को फिर से उपस्थित कर देना चाहता है जो कभी नाटक का प्रमुख शृङ्गार हुआ करते थे।

तस्वीर का दूसरा पहलू

पर कहीं कुछ सार्थक और महत्त्वपूर्ण भी रचा जा रहा है। यहाँ केवल दो ही उदाहरण दे सकना सम्भव है, पहला कृतित्व का, दूसरा रंगमंच-शिल्प का। रोल्फ होख हुथ का नाटक 'सोल्जर्स' जर्मन भाषा के माध्यम से एक महत्त्वपूर्ण कृति के रूप में सामने आता है। यह इतना प्रभावशाली, मर्मस्पर्शी नाटक है कि इसे ब्रिटेन के नेशनल थिएटर के लारेन्स ओलीवियर तक को प्रस्तुत करने की आशा न थी। कनाडा के एक नए थियेटर 'टोरन्टो' ने इसे पहली बार अंग्रेजी में प्रस्तुत किया और इसने अंग्रेजी समाज को जैसे हिला दिया। इसमें चर्चिल को इतिहास की उन महायुद्ध की घटनाओं और अपराधों के परिदृश्य में बड़ी गहराई, निर्ममता और तटस्थता से देखा गया है। यह नाटक नए डाक्यूमेंटरी थिएटर का अच्छा उदाहरण है। इसी प्रकार वियतनाम युद्ध, अमेरिकी परमाणुवैज्ञानिक राबर्ट ओपन हीमर के मुकदमे जैसी सामयिक घटनाओं को लेकर इधर कई नाटक रचे और खेले गए हैं।

पोलिश लैब थिएटर

पोलैण्ड के जर्जी ग्रोटोस्की का 'लैब थिएटर' ड्रामा की शक्ति से नए रंगमंच की प्रतिष्ठा अथवा सृष्टि में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। यह नाट्य मण्डली यूरोप की सबसे ज्यादा प्रशिक्षित और गम्भीर कम्पनी है। 'द कान्स्टेन्ट प्रिंस', 'एक्रोपोलिस', 'एपाकालिप्सिस कमफिगरीस' ये कुछ नाटक इस कम्पनी द्वारा जिस नवीनता, गहन व्याख्या-दृष्टि और सौन्दर्य-बोध के साथ प्रस्तुत किए गए हैं, वह पिछले दशक की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जाएगी।

ग्रोटोव्स्की का विश्वास है—गम्भीर ड्रामा में उसकी गम्भीरता (इन्टेंसिटी) को प्रकट करने के लिए मंच पर कोई पूरक तत्व (सबस्टीट्यूट) नहीं है। ड्रामा मैग्नीफाइंग ग्लास की तरह है, जो सूर्य के पूरे ताप को पिन के सिरे पर केन्द्रित कर देता है।

यह थिएटर सातवें दशक के रंगमंच की क्लासिकी प्रवृत्ति का परिचायक है। इस धारा के रंगकर्मियों का विश्वास है कि व्यावसायिक स्तर पर आज कोई भी सार्थक रंगमंच हो नहीं सकता। यही नहीं आधुनिकता और प्रयोग के नाम पर पिछले दशकों में जो कुछ किया गया है वह सब मूल रूप से व्यावसायिक है। असली रंगमंच कला पारखियों का रंगमंच होगा और वह अभिनय, प्रस्तुतीकरण आदि-आदि के विषय में तमाम नई फैशनपरस्त धारणाओं को भुला कर सदियों पहले की शास्त्रीय परंपरा को फिर प्रतिष्ठित करेगा। फिर भी कोई आश्चर्य नहीं कि पोलिश लैब थिएटर आदि के प्रयास बहुत लोकप्रिय नहीं हैं। अमेरिका में उसने हाल में जब अपने नाटक प्रदर्शित किये तो ६०-४० विशेषज्ञ दर्शकों के सामने ही। यह भी द्रष्टव्य है कि इस दशक में पिछले दशक का 'आधुनिक' समझा जाने वाला बौद्धिक रंगमंच भी काफी हद तक उखड़ गया। सफलता उन लोगों के हाथ लगी जिन्होंने नृत्य, संगीत, सामयिक राजनीति, फक्कड़ी और काम-प्रदर्शन की खिचड़ी पकाते हुए एक नए 'सम्पूर्ण' शास्त्रीय रंगमंच की नींव डाली। कैनेथ टाइनन जैसे रंगमंच विशेषज्ञ इस 'व्यावसायिकता' को बौद्धिक जामा सफलतापूर्वक पहना सके। जो नंगा नाटक पहले चन्द छोटे थिएटरों तक सीमित था वह बहुत धूमधाम से व्यावसायिक रंगशाला में प्रतिष्ठित हो सका। रंगमंच पर खुला रति-प्रदर्शन करने में काफी कठिनाइयाँ भी पेश आईं और क्यूबा के क्रान्तिकारी का नाम लेने और हस्तमैथुन का प्रदर्शन करने वाले 'चे गुएरा' के विरुद्ध परमिसिव (छूट देने वाले) समाज को भी पुलिस कार्रवाई करनी पड़ी।

कुल मिला कर इसी कामुकता और क्रान्तिकारिता की पाश्चात्य रंगमंच पर धूम रही। व्यावसायिक रंगमंच में अब तक के वर्जित विषय फुट-लाइटों के सामने आए तो प्रयोगात्मक मंच ने नाटक और दर्शक को एकाकार कर के रंगमंच को सामूहिक और सामुदायिक तमाशा बनाने की कोशिश की। ऐसे तक नाटक खेले गए जिनके लिए कथोपकथन पहले से लिखा हुआ नहीं

था और कुछ में तो कथोपकथन को ही अनावश्यक मान लिया गया। साथ ही यह भी द्रष्टव्य है कि इस दशक में प्रयोगात्मक मंच बहुत आसानी से व्यावसायिक हो सका और एक नया नारा बुलन्द हुआ—'जो चालू है सो बढ़िया है'। अगले दशक में इसकी कोई प्रतिक्रिया शीघ्र ही होती नहीं दीखती। कम-से-कम पांच-सात वर्ष तक, ऐसा लगता है पश्चिम अपनी ऐन्द्रिकता को बौद्धिकता का वर्ग देता रहेगा।

□ □

आधुनिक
हिन्दी
नाटक
और
रंगमंच